वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८४

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	मुनिवर-स्तुति	१
२.	महाकवि स्वयंभू विषयक शोध-खोज —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	२
३.	'ब्राह्मी स्तोत्र' एक समस्या-पूर्ति —श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	५
४	गुना में संरक्षित 'खो' की जैन प्रतिमाएं —श्री नरेशकुमार पाठक, ग्वालियर	६
५.	बिजौलिया अभिलेख (वि. सं. १२२६) में जैन दर्शन विषयक सिद्धान्तो का उल्लेख —श्री कृष्ण गोपाल शर्मा, जयपुर	१०
६.	शान्तिनाथ पुराण का काव्यात्मक वैभव —कु० मृदुलकुमारी शर्मा	११
७.	हमारा व्यवहारिक आचार—श्री बाबूलाल जैन	१७
८.	लोक-प्रतिष्ठा और आत्म-प्रशंसा	२१
९.	ताकि सनद रहे और काम आए	२२
१०.	मूल-जैन संस्कृति : 'अपरिग्रह' —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२४
११.	जरा-सोचिए—संपादक	३१
१२.	श्रद्धांजलि—डा०ज्योति प्रसाद जैन	आवरण : २
१३.	साहित्य-समीक्षा	,, ३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्मरणाञ्जलि

प्रस्तुत 'किरण, के साथ 'अनेकान्त' अपने ३७वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इसकी सफलता में हमारे विद्वान लेखकों एवं प्रबुद्ध पाठकों का जो सराहनीय योगदान रहा है उसके लिए हम हृदय से आभारी हैं। इस अवसर पर हम अनेकान्त के प्रवर्तक, निर्माता एवं सम्पादक, जैन पत्रकारिता के मुकुटमणि स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' का कृतज्ञतापूर्वक सादर स्मरण करते हैं। गत २२ दिसम्बर १९८३ को उनकी १५वीं पुण्य तिथि थी, और उसके कई दिन पूर्व, मार्गशीर्ष शु० ११ वि. सं. २०४० (१५ दिस०, १९८३ ई०) को उनकी १०६ वीं जन्मतिथि थी। उस निःस्वार्थ एवं समर्पित संस्कृति-सेवी के सजीव स्मारक हैं— 'अनेकान्त' जैसी त्रैमासिक शोधपत्रिका, दिल्ली का वीर-सेवा मन्दिर संस्थान एवं भवन, एटा से संचालित उनकी शेष निजी सम्पत्ति का बा० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ट्रस्ट, जिससे उसके सुयोग्य मन्त्री डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करते रहते हैं। और सरसावा में मुख्तार सा. का विशाल वीर सेवा मन्दिर भवन जो समाज के ही उपयोग में आता है। जिसमें विद्यालय आदि चलते हैं। अनेकान्त एवं वीर सेवा मंदिर परिवार की ओर से हम उस महामना की स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

डा० ज्योति प्रसाद जैन

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मंदिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि— त्रैमासिक
संपादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३७ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० सं० २०४० | १९८४

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीनो, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो ।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो ।
दुर्धर-तप तपि सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो ।
करुणा भीन, चीन त्रस-थावर, ईर्या पंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो ।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो ।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो ।।

महाकवि स्वयंभू विषयक शोध-खोज

□ विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

अपभ्रंश भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि स्वयंभू के विषय में गत साधिक साठ वर्षों में पर्याप्त लिखा गया है। उक्त ऊहापोह एवं शोध खोज से तद्विषयक अध्ययन की प्रगति का परिचय प्राप्त होता है और प्रतीत होता है कि अभी भी स्वयभू विषयक अध्ययन अपूर्ण ही है।

कविवर का सर्व प्रसिद्ध महाकाव्य 'पउमचरिउ' अपरनाम 'रामायण' है जिसके बल पर उनकी गणना मात्र अपभ्रंश भाषा के ही नही, समस्त भारतीय साहित्य के सर्वोपरि महाकवियो मे की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास से सैकड़ो वर्ष पहले से, तथा स्वय उनके समय मे भी उत्तर भारत में स्वयंभू रामायण का प्रभूत प्रचार था। इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिया १५-१६वी शती ई० की ग्वालियर आदि के शास्त्र भंडारो मे प्राप्त हुई है। कवि का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठणेमिचरिउ' अपरनाम 'हरिवश पुराण' है, तीसरी कृति उनकी पद्धडियाबद्ध 'पंचमीचरिउ' (नागकुमार चरित) हैं जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। स्वयभू छन्द नाम से उन्होने अपभ्रंश भाषा का एक छन्द शास्त्र भी रचा था और एक अपभ्रश व्याकरण (स्वयभू व्याकरण) भी रचा बताया जाता है। कई अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के उल्लेख भी मिलते है यथा 'शुद्धय चरित' या 'सुव्वय चरित', एक स्तोत्र, आदि।

आधुनिक युग में १८२० ई० के लगभग डा० पी० डी० गुणे ने कवि स्वयभू की खोज सर्व प्रथम की थी। उनके उक्त लघु परिचय के आधार से मुनिजिनविजय जी ने इन कविवर की ओर विद्वतगण का ध्यान आकृष्ट किया और पं० नाथूराम प्रेमी ने भी जुलाई १९२३ के 'जैन साहित्य समालोचक' में प्रकाशित अपने लेख 'महाकवि पुष्पदंत और उनका महापुराण' में स्वयंभू के पउमचरिउ की चर्चा की।

तदनन्तर प्रो० हीरालाल जैन ने नागपुर यूनीवर्सिटी जनरल, भा० १ सन १९३५ मे प्रकाशित अपने लेख स्वयंभू एण्ड हिज टू पोइम्स इन अपभ्रंश' मे कविवर और उनके दोनों महाकाव्यो का परिचय दिया, तथा डा० एच० डी० वेलकर ने कवि के छंद ग्रन्थ का अन्वेषण करके उसका उपलभ्य भाग रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के जर्नल (नई सीरीज), भा-२, सन १९३५-३६, में प्रकाशित कराया। प्रो० मधुसूदन मोदी का गुजराती लेख 'अपभ्रश कवियो चतुर्मुख स्वयभू अने त्रिभुवन स्वयभू' १९४० मे भारतीय-विद्या' नामक पत्रिका के वर्ष १ अक २-३ मे प्रकाशित हुआ। उन्होने चतुर्मुख और स्वयंभू को अभिन्न समझने की भूल की। पं. नाथूराम जी प्रेमी ने भारतीय विद्या (व. २ अ-१) में प्रकाशित अपने लेख तथा १९४२ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जैन साहित्य और इतिहास' के प्रथम सस्करण के महाकवि स्वयभू और त्रिभुवनस्वयंभू' शीर्षक निबध (पृ. ३७०-४९५) मे मोदी जी की उक्त भूल का निरसन किया तथा पिता-पुत्र कविद्वय के संबन्ध मे विस्तृत ऊहापोह की और दोनो महाकाव्यो के आद्य एव अन्त्य पाठ भी उद्धृत किए। महापडित राहुल सांस्कृत्यायन ने १९४५ मे प्रकाशित अपने ग्रथ 'हिन्दी काव्यधारा' में स्वयंभू रामायण के कई काव्यात्मक अवतरण उदधृत करते हुए प्रथम श्रेणी के महाकवि के रूप में उनका समुचित मूल्याकन किया और यह भी इंगित किया कि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस पर स्वयभू रामायण का प्रभूत एव प्रत्यक्ष प्रभाव रहा। प० परशुराम चतुर्वेदी और डा० त्रिलोक नारायण ने भी अपने लेखो आदि में स्वयभू तथा उनके महाकाव्य की चर्चा की। किन्तु राहुल जी तथा उक्त दोनों विद्वानों की कई भ्रान्त धारणाएं भी रहीं।

१९५२-१९६२ में डा० एच० सी० भायाणी ने तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार से स्वयंभू के पउमचरिउ के

मूलपाठ का अत्युत्तम संपादन करके उसे तीन भागों में सिंघी जैन सीरीज (न. ३४-३६) के अन्तर्गत प्रकाशित कराया। भा. १ व ३ की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाओं में उन्होने उक्त महाकाव्य का सर्वांग समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया—उसके स्तोत्रों, भाषा, शैली, व्याकरण, छद प्रयोग, विषय वस्तु आदि पर प्रकाश डाला और स्वयं महाकवि के व्यक्तित्व, कृतित्व, उपलब्धियो, तिथि युग, आदि का भी विवेचन किया। डा० ज्योति प्रसाद जैन ने १९५५-५६ में अपने शोध प्रबध 'जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्सेंट इण्डिया' मे भी महाकवि स्वयभू का परिचय दिया—इस ग्रथ का पुस्तकाकार प्रकाशन १९८४ मे सै० मुन्शीराम मनोहर लाल नई दिल्ली द्वारा हुआ। १९५६ मे ही प० नाथूराम प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास के द्वितीय सस्करण के (पृ० १९६-२१९ पर) 'स्वयभू और त्रिभुवन स्वयभू' लेख मे उनके पूर्वोक्त लेख का सशोधित रूप प्रकट हुआ और उसी वर्ष प्रकाशित अपने शोध प्रबध 'अपभ्र श साहित्य' पृ. ५१ आदि मे डा० एच कोछड़ ने स्वयभू तथा उनके काव्यों की संक्षिप्त विवेचना की।

१९५७ मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा स्वयभू के पउमचरिउ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इसमे डा० भायाणी द्वारा सुसंपादित मूल पाठ अपनाया गया और प्रो० देवेन्द्र कुमार जैन साहित्याचार्य द्वारा उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इस भाग के प्रारम्भ मे प्रधान सम्पादक के रूप में डा० हीरालाल जैन एवं डा० ए. एन. उपाध्ये के सक्षिप्त प्राथमिक वक्तव्य के अनन्तर विद्वान हिन्दी अनुवादक ने 'दो शब्द' तथा महाकवि स्वयभू' शीर्षकों मे महाकवि के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर प्रकाश डाला है। वीर सेवा मन्दिर दिल्ली से १९६३ मे प्रकाशित जैन ग्रंथ प्रशस्ति सग्रह भा० २ की भूमिका मे प० परमानन्द शास्त्री ने भी कवि और उसकी कृतियो का परिचय तथा अपनी तद्विषयक धाराणाएं दी हैं—पउमचरिउ की जिस प्रति का उन्होने उपयोग किया वह १९५७ ई० की अर्थात बैसाख शुक्ल १५ सामवार वि. स० १५१४ की थी। इस बीच भारतीय ज्ञानपीठ से डा० देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा अनुवित भाग क्रमशः निकलते रहे। पांचवा (अंतिम) भाग १९७० में प्रकाशित हुआ, जिसके प्रारम्भ में ग्रथमाला के प्रधान सम्पादक द्वय डा० हीरालाल जैन एव डा० ए. एन. उपाध्ये के अंग्रेजी एवं हिन्दी प्रधान सम्पादकीय मे पुन: इस महाकाव्य तथा उसके रचयिता के विषय मे विचार किया गया है।

उपरोक्त विवेचनो के अतिरिक्त पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान वाराणसी से प्रकाशित "जैन साहित्य का वृहद इतिहास" (खड ६), डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री कृत 'अपभ्र श भाषा और साहित्य', डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य कृत 'भगवान महावीर की आचार्य परम्परा' (भाग ४), प० परमानन्द शास्त्री एव पं० बलभद्र जैन कृत 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' (भाग २) तथा अन्य अन्य विद्वानो के फुटकर लेखो आदि मे भी महाकवि स्वयंभू की चर्चा या उल्लेख हुए है। इस प्रकार गत ६०-६५ वर्षो मे अपभ्र श भाषा एव साहित्य के महाकवि एवं आचार्य स्वयभूदेव के सम्बन्ध मे बहुत कुछ अध्ययन-विवेचन एव चर्चा हुई है, तथापि अभी और बहुत कुछ किया जाना शेष है—उपरोक्त अध्ययन अभी भी पूर्ण, सर्वांग तथा सर्वथा सन्तोषजनक नही है।

महाकवि की अधुनाज्ञात सात कृतियो मे से तीन ही—पउमचरिउ, अरिट्ठणेमिचरिउ और स्वयभूछद ही उपलब्ध है। इनमे से भी अभी तक डा० वेलणकार द्वारा स्वयभू छद का और डा० भायाणी द्वारा पउमचरिउ (रामायण) का ही भाषाशास्त्रीय एव काव्यशास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन हुआ है— उनसे आगे बढकर और विशेष अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। पउमचरिउ की भाति अरिठ्ठणेमिचरिउ (हरिवश पुराण) का भी विशोध्ययनयुक्त सुसपादित सस्करण प्रकाशित होना शेष है। पचमी चरिउ (नागकुमार चरित), सुव्वयचरिउ (?), स्वयभू व्याकरण आदि अन्य ज्ञात रचनाओ की शास्त्र भण्डारो मे खोज की जाने तथा उद्धार किये जाने का कार्य शेष है। खोज करने से सम्भव है कि उनकी कोई अन्य रचना या रचनाये भी प्राप्त हो जायें। स्वयभू की प्रतिमा के जिन आयामो-काव्यकौशल, भाषा ने पुण्य, वैदुष्य, धर्मज्ञता, शास्त्रज्ञता, छदशास्त्रज्ञता व्याकरण पांडित्य आदि का इंगिन मिलता है उन सबकी सम्यक्

गवेषणा करके कवि के व्यक्तित्व को उजागर करना, भारतीय साहित्य में उनके योगदान का मूल्यांकन और भारतीय ही नहीं, विश्व के सार्वकालीन महाकवियों में उनका स्थान निर्धारण करना, ऐसी दिशाएं हैं जिनमें अभी बहुत कुछ किया जा सकता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का तलस्पर्शी सर्वांग सांस्कृतिक अध्ययन अपेक्षित है। उनकी कृतियों के स्तोत्रों तथा पूर्वापर प्रभावो पर भी प्रकाश पड़ना है।

अन्य अनेक पुरातन आचार्यों, मनीषियों, महाकवियो आदि की भांति महाकवि स्वयभू के विषय मे जो कुछ वैयक्तिक तथ्य उपलब्ध हैं, वे अत्यल्प हैं। परन्तु जैसा कि आंग्ल महाकवि शेक्सपियर के एक प्रौढ अध्येता अल्फ्रेड आस्टिन का कहना है कि 'बहुधा यह कहा जाता है कि व्यक्ति विशेष के रूप में हम शेक्सपियर के विषय मे कुछ भी नहीं जानते, किन्तु मुझे तो यह प्रतीत होता है जितना अधिक हम उस व्यक्ति के विषय मे जानते हैं, किसी अन्य व्यक्ति के विषय में नही जानते हैं—यही बात महाकवि स्वयंभू पर लागू होती है, किन्तु उसके पांडित्य का उतना विविध एवं विस्तृत अध्ययन तो हो ले जितना कि गत लगभग ४०० वर्ष में शेक्सपियर का हो सका है। ऐसा हो जाने पर स्वयभू के भी व्यक्तित्व, स्वभाव, चारित्र एव गुण-दोषों को बहुत कुछ उजागर किया जा सकता है।

कवि की प्राप्त कृतियों में उनका नाम स्वयभू या स्वयंभूदेव प्राप्त होता है। यह उनका मूल नाम था या साहित्यिक, कहा नही जा सकता। कविराय, कविराज-चक्रवर्ती, कविराजधवल, छंदचूडामणि, जयपरिवेश तथा विजयप्रेषित उनके विरुद ये उपाधियां रही प्रतीत होती हैं। स्वय के कथनानुसार वह शरीर के दुबले-पतले, ऊंचे कद के थे, उनकी नाक चपटी थी और दांत विरल थे। ऐसा लगता है कि काव्यों की रचना के समय वह प्रौढ़ अनुभववृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध थे। उनकी जाति, कुल, वंश, गोत्र आदि का कुछ पता नही है, सम्भवतया वह ब्राह्मण थे। धर्मतः वह दिगम्बर मतावलम्बी थे। पुष्पदंतीय महा-पुराण के 'स्वयंभू' शब्द के टिप्पण में उन्हें 'आपुलीसघीय' कहा गया है जिससे अनुमान लगाया गया है कि उनका सम्बन्ध यापनीय संघ से था यह संघ दिगम्बर परम्परा की ही एक शाखा थी और अन्ततः उसी में अंतर्भूत हो गया।

कवि के पिता का नाम मारुतदेव था, जो शायद स्वयं भी अपभ्रंश भाषा के एक सुकवि थे। कवि की जननी का नाम पद्मिनी था। कवि की तीन पत्नियां थी—आइच्चंबा (आदित्याम्बा), साभिअब्बा या अभिअब्बा (अमृताम्बा) और सुअब्बा (श्रुताम्बा)—ये तीनों ही विदुषी थी और कवि के लेखनकार्य मे योग देती थीं। स्वयंभू की महासत्वधरिणी धर्मपत्नी सामिअब्बा तो ध्रुव-राज की पुत्रियों की शिक्षिका भी थी। कवि की संभवतया एकाधिक संतानें थीं, किन्तु उनके केवल एक सुपुत्र त्रिभु-वन स्वयभू के विषय में ही कुछ जानकारी है। उसने पिता की कृतियो के कच्चे आलेखों को सुसंपादित करके तथा उनमें पूरक अश, अन्त्य प्रशस्तिया आदि जोड़कर उनका सरक्षण एवं प्रकाशन किया। उसने अपने बदइय, गोविन्द, श्रीपाल, मदन आदि कई प्रश्रयदाताओं एवं प्रेरकों के नाम भी दिए हैं। स्वयं कवि स्वयंभू ने अपने आश्रय-दाता के रूप मे रयडा धनञ्जय और धवलइय या ध्रुव-राज धवलइय के नाम प्रकट किए हैं।

कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियो एव साहित्यकारो का नामोल्लेख किया है। पउमचरिउ की सूची में अतिम नाम अनुत्तरवादी कीर्तिधर और रविषेण के हैं—इन दोनो के पद्मपुराणों को ही स्वयभू ने अपनी रामायण का मूलाधार बनाया प्रतीत होता है। संस्कृत पद्मपुराण के कर्ता रविषेण (६७६ ई०) ने भी अनुत्तरवादी कीर्तिधर के पुराण को अपना आधार सूचित किया है। अरिट्ठणेमि चरिउ में स्वयभू ने महाकवि चतुर्मुख और उनके पद्धा-डियाबद्ध हरिवंशपुराण को अपना पूर्ववर्ती सूचित किया है। स्वय स्वयभू का सर्वप्रथम स्पष्ट नामोल्लेख पुष्पदत के अपभ्रंश महापुराण (६५६ ई०) में प्राप्त होता है।

इस प्रकार कवि के समय की पूर्वावधि ६७६ ई० और उत्तरावधि ६५६ ई० स्थिर होती है। इसी आधार पर स्व० प्रेमी जी ने स्वयंभू का समय ६७६ ई० और ७८३ ई० के बीच अनुमान किया था, डा० देवेन्द्र कुमार ने भी इसे मान्य किया किन्तु यह हेतु कि स्वयंभू ने जिन-

(शेष पृ० ८ पर)

ब्राह्मी स्तोत्र : एक समस्या पूर्ति

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

मेरे हस्तलिखित ग्रन्थ सग्रह मे एक छोटी-सी पुस्तिका हस्तलिखित है जिसमें केवल ग्यारह पत्र हैं प्रत्येक पत्र की लं० चौ० १४।। सें० मी० × ७।। से० मी० है। प्रत्येक पत्र में पांच-पांच पक्तियां हैं तथा प्रत्येक पक्ति मे तीस-२ अक्षर हैं। प्रति अत्यधिक सुवाच्य सुन्दर शब्दो मे अकित है इसमे केवल ४४ वसन्ततिलका संस्कृत छन्द हैं। इसके रचयिता श्री गुरु खेमकर्ण के शिष्य श्री धर्मसिंह हैं। जिन-रत्नकोष पृष्ठ २८६ पर इसका उल्लेख है, पर रचयिता का विशिष्ट परिचय उपलब्ध नही होता है।

इस ब्राह्मी स्तोत्र की एक खास विशेषता है इसीलिए यह लेख लिखा जा रहा है। यह भगवती सरस्वती या जिनवाणी का वर्णन करने वाला स्तोत्र है और केवल स्तुतिपरक ही नही है अपितु जहा जिनवाणी की स्तुति है वहां भगवान आदिनाथ की स्तुति से सबधित मुनि मान-तुंगाचार्यकृत भक्तामरस्तोत्र के प्रत्येक छद की अतिम पक्ति समाविष्ट कर तीन पंक्तियां सरस्वती की स्तुति की मिलाकर पूरा जिनवाणी का स्तवन किया गया है। इस तरह वाग्देवी की स्तुति के ४४ छद प्रस्तुत कर रहा हू।

एक समय था जब समस्यापूर्ति का प्रचलन हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि सभी भाषाओ में हुआ करता था और यह कवि विचक्षण प्रतिभा के धनी कविगण ही कर पाते थे। धारानरेश महाराज भोज तो अपने कवियो को स्वय समस्यात्मक पक्तियां देकर उनकी पूर्ति कराते थे तथा उत्तम समस्यापूर्ति रूपक रचना पर लाख-लाख मुद्राए दान में समर्पित कर दिया करते थे। यद्यपि 'लक्षददौ' की उक्ति में अतिशयोक्ति भले ही हों फिर भी समस्यापूर्ति का संचलन विभिन्न भाषाओ मे विपुलता से रहा है। इसी तरह का एक महाकाव्य "पार्श्वाभ्युदय" जिसे श्री जिनसेनाचार्य महाराज ने महाकवि कालिदास के मेघदूत की एक पंक्ति लेकर शेष तीन पंक्तियां अपनी रचकर पार्श्वप्रभु का चरित्र वर्णन किया है, कितनी महान प्रतिभा थी उनमे। इसी तरह प० लालारामजी शास्त्री ने भक्तामर स्तोत्र' के चरणों को लेकर २०४ श्लोकों की रचना "शतद्वयी" के नाम से की थी। इसी तरह "प्राण-प्रिय" नामक काव्य भी राजुल और नेमिप्रभु का वर्णन करने वाली समस्यापूर्ति रूपक रचना उपलब्ध होती है।

जैन साहित्य में उमास्वामी और मानतुंगाचार्य दो ही ऐसे निर्विवाद आचार्य हुए है जिन्हे दि० और श्वे० दोनों ही सम्प्रदाय बडी श्रद्धा और आदर के साथ पूजते हैं दोनो की कृतिया तत्वार्थ सूत्र और भक्तामर स्तोत्र बड़े भक्ति भाव से पढे और बाचे जाते हैं। तथा उनकी आरा-धना और स्वाध्याय होता है। यह बात अलग है कि आगे चलकर कुछ विद्वानो ने दुराग्रह वश इनमे हेराफेरी कर कुछ कमी बढ कर दिया जिसका उल्लेख करना यहां अप्रा-सगिक होगा इस विवाद के लिए अनेकान्त वर्ष २ किरण १, पृ० ६६ पर तथा स्व० डा० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषा-चार्य कृत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा' को विस्तार से देखे।

यहां तो मेरा मूल उद्देश्य केवल इस "ब्राह्मी स्तोत्र" शीर्षक श्रेष्ठ साहित्यिक कला कृति का रसास्वादन ही पाठको को कराना मात्र है। यदि भविष्य मे आवश्यकता हुई तो 'भक्तामर स्तोत्र और तत्त्वार्थसूत्र' पर विस्तार से विशद विवेचन अगले अकों मे करूंगा। यह साहित्यिक कलाकृति अब तक सर्वथा अप्राप्य, अज्ञात और अप्रकाश्य है, सुधी पाठकगण इन छदों की गरिमा और लालित्य को परखें तथा भावों और विचारों को कवि ने किस खूब-सूरती से सजोया एवं पिरोया है वह सर्वथा पठनीय और मननीय है जिसे अविरल रूप से नीचे दे रहा हूं। वाग्देवी की स्तुति कितनी सुन्दर और चमत्कृत है यह पाठक स्वयं ही निर्णय करें ऐसी रचनायें प्रायः बहुत ही कम उपलब्ध होती हैं :—

॥ श्री लक्ष्म्यै नमः ॥

श्री गुरु खेमकरण के शिष्य धर्मसिंह द्वारा रचित

भक्तामर भ्रमर विभ्रमवैभवेन,
लीलायते क्रम सरोज युगो यदीयः।
निघ्नन्नरिष्ट भयभित्तिमभीष्ट भूमा-
वालंबनं भवजलेपततां जनानां ॥१॥

मत्वैवयं जनयितारमरंस्त हस्ते या
सश्रिता विशद वर्णाबलिभिः प्रसूना।
ब्राह्मीमजिह्म गुणगौरव गौरवर्णा
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रं ॥२॥

मातर्मति सतसहस्रमुखीं प्रसीदनालं
मनीरिवनिमयीस्वरभक्तिवृत्तौ।
वक्तुं स्तवं सकल शास्त्रजयं भवत्या-
मन्यः कः इच्छति जनः सहसागृहीतुं ॥३

त्वां स्तोत्रमंत्रसतिचारु चरित्रपात्र
कर्तुं स्वयं गुणदरी जलउर्विगाह्यं।
येतत्रयं विडुपगूहयितुं सुराद्रि
को वा तरीतुमलमंबुनिधिं भुजाभ्यां ॥४

त्वद्वर्णनावचनमौक्तिक पूर्णमीक्ष
मातर्नभक्तिमूढ़ा तव मानस मे।
प्रीतिर्ज्जगत्त्रय जनध्वनि सत्यताया
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५

वीणास्वनं स्वसहज यदवापमूर्छां
श्रोतुर्न किंसुवसुवाक्ययः जल्पितायां।
जातं न कौकिलरवं प्रतिकूलभावं
तच्चारुचाम्र कलिकानिकरैकहेतुः ॥६

त्वन्नाम मंत्रमिह भारत संभवानां
भक्त्यैतिभारतविशां जपतामघौघं।
सद्यक्षयंस्थगितभूवलयांतरोक्ष
सूर्यांशुभिन्नमिवशार्वरमंधकारं ॥७

श्रीहर्षमाघवरभारविकालिदास वाल्मीकि
पाणिनिममट्टमहाकवीनां।
साम्यं त्वदीय चरणाब्ज समाश्रितो य
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूर्बाबदू ॥८

विद्याविसाररसिकमानसलालसाना
चेतांसि यांति सुदृशां धृतमिष्टमूर्तेः।
त्वय्यर्यमत्वषि तथैव नवोदयिन्या
पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि ॥९

त्वं किं करोषि न शिवेन समान मानान्
त्वत्संस्तवें हृदः·· षोविदुषोगुरुहः।
किं सेवयन्नुपकृते सुकृतैकहेतु
भूत्याश्रितं य इहनात्म समं करोति ॥१०

य त्वत्कथामृतरसं सरसं निपीय
मेधाविनोनवसुधामपिनाद्रियते।
क्षीरार्णवार्णवुचितं मनसाप्यवाप्य
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं कः इच्छेत् ॥११

जैनाः वदति वरदे सति साधुरूपा
त्वामामनति नितरामितरे भवानी।
सारस्वत मतविभिन्नमनेकमेकं
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥१२

मन्येप्रभूत किरणै श्रुतदेविदेव्यौ
त्वत्कुंडलौकिल विडंबयतास्तमायां।
मूर्तद्वंशामविषय भविभोश्चपूर्णः
यद्वासरेभवति पांडुपलासकल्पं ॥१३

ये व्योमवात जलवह्नि मृदा चयेन
काय प्रहर्ष विमुखा स्त्वदृते श्रयति।
जातानबाम्वजडताद्यगुणानणून्मा
कस्तान्निवारयति संचरतोयथेष्टम् ॥१४

अस्मादृशां वरमवाप्तमिद भवत्या
सत्यावृतोरु विकृते सरणिनयातं।
किं चाद्यमेन्द्रमनघेसति सारदेत्र
किं मदाराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५

निर्मायशास्त्रसदनं यतिभिर्जयैकं
प्रादुष्कृतः प्रकृतितीव्रतपोमयेन।
उच्छेदिताहुउलय सतिगीयसेचेद्-
दीपो परस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६

यस्या अतीन्द्रगिरिरांगिरि सप्रसस्यः
त्वां सास्वतीं स्वमतसिद्धमही मदीयः।
ज्योतिष्मती चवचसां तनुतेज आस्ते
सूर्यातिशायिमहिमासिमुनीन्द्रलोके ॥१७

स्पष्टार्यमत्वषितथैव नवोदयिन्याक्षरं सुरभि-
सुग्रसमद्धिशोभं जेगीयमानरसिक प्रियपंचमेष्टं।

देदीप्यते सुमुखिते वदनारविंदं
विद्योतयज्जगत्पूर्वशशांक बिम्बम् ।।१८

प्राप्नोत्यमुत्र सकलावयवप्रसंगी
निस्यति मिंदुवदनेशशिरात्मकत्व ।
शक्ति जगत्वदधरामृत वर्षणेन
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ।।१६

मातस्त्वयी मम मनोरमतेमनीषी
मुग्धांगने नहि तथा नियमाद्भवत्या ।
त्वस्मिन्नमेय पणरोचिषि रत्नयातौ
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेपि ।।२०

चेतस्त्वयी श्रमणपातयते मनस्वी
स्याद्वादनिम्ननयत. प्रयते यतोऽह ।
योग समेत्य नियमव्ययपूर्वकेन
कश्चिन्मनोहरति नाथ भवांतरेऽपि ।।२१

ज्ञान तु सम्यगुदयस्य निशत्वमेव
व्यत्यास सशय धियोमुख मनेके ।
गौरांगि सति बहुभा क्व कुमोर्कमन्या
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालं ।।२२

यो रोधसीमृतजनी गमयत्युप.स्य
जाने स एव सुननु: पृथित पृथिव्या ।
पूर्व त्वयादिपुरुष सदयोस्ति साध्वी
नान्य: शिवश्शिवपदस्यमुनीन्द्रपंथा ।।२३

दिव्यद्द्या निलयमुन्मुनि दक्षिपद्म
पुण्य प्रपूर्ण हृदय वरदे वरेण्य ।
त्वद्भूधन सघन रश्मि महाप्रभाव
ज्ञानं स्वरूपममलंप्रवदंति संत: ।।२४

कैवल्यमात्मतपसाखिलविश्वदर्शी
चक्रे ययादिपुरुष: प्रणया प्रमाया ।
जानाभि विश्वजननीति च देवते सा
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोसि ।।२५

सिद्धान्त एधि फलदो बहुराज्यलाभ:
न्यस्तो यया जगत विश्वजनीनपंथ. ।
विच्छित्तये भवति तेरिवदेधिमन्या
स्तुभ्यं नमो जिनभवोदधिशोषणाय ।।२६

मध्यान्ह काल विसृत: सवितु: प्रभायां
सर्वैदिरे गुणवति त्वमतो भवत्या ।
दोषांस इष्ट वरणैरपरैरभिज्ञै:
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षितोसि ।।२७

हारांतरस्थमयि कौस्तुभमत्रगात्र
शोभां सहस्रगुणयत्युदयास्तगीर्य्यो ।
विद्यास्यतस्तव सतीमुपचारिरत्न
बिंब रवेरिवपयोधरपार्श्ववर्ती ।।२८

अज्ञानमात्रतिमिर तव वाग्विलासा
विद्याबिनोदि विदुषा महता मुखाग्रे ।
निघ्नति तिग्म किरणा निहिताभनिरीहे
तुंगोदयाद्रि शिरसीव सहस्ररश्मे ।।२६

पृथ्वीतल द्वयमपायि पवित्रयत्वा
शुद्ध यशोधवलयत्यधुनोर्द्धलोक ।
प्राग्लघयासुमुखतेथ विद महिम्ना
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिवशातकौभं ।।३०

रोमोर्म्मिभिर्भुवन मातरिवस्रवेणी
सन पवित्रयनिलोकमदोगयर्ती ।
विभ्राजतेभवगती त्रिवलीपथ ते
प्रख्यापयस्त्रिजगत: परमेश्वरत्वं ।।३१

भाष्योवित युक्ति गहनानि च निर्निमीशे
यत्र त्वमेव सति शास्त्र सरोवराणि ।
जानीमहे खलु सुवर्णमयानि वाक्य
पद्मानितत्र विबुधा: परिकल्पयंति ।।३२

प्राग्वैभव विजयतेनयथेनरम्या
ब्राह्मी प्रकाम रचना रुचिर तथाते ।
ताडकयोस्तवगभस्ति रतीन्दुभान्वो-
स्तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोपि ।।३३

कल्याणि सोपनिषद्प्रसभ प्रगृह्य-
वेदानतीन्द्रजदरो जलधौजुगोप ।
भीष्म विधेरसुरमुग्ररुषापियस्त
दृष्ट्वाभयं भवति नोभवदाश्रितानां ।।३४

गर्जद्घनाघन समान-तवुर्गजेन्द्र
विष्कभकुभपरिरभजयाधिरूढ ।
द्वेष्योपि भूप्रसरदश्चपदाति सैन्य-
नाक्रामतिक्रमयुगाचल संश्रितं ते ।।३५

माशाश्रृगस्थिरस शुक्र सलज्जमज्जा
स्नायूदिते वपुषिपित्त मरुत्कफाद्यै: ।
रोभानलं चपलतावयव विकारै
स्त्वन्नामकीर्त्तन जलंशमयत्येवम् ।।३६

मिथ्याप्रवादि निरत विधिकृत्य सूयं
एकांतपक्ष कृतकक्ष विलक्षतास्यं ।

चेतो स्तभि: सपरिमर्द्दयते द्विजिह्व
त्वन्नाम नागदमनी हृदि यस्यपु सः ।।३७
प्राचीनकर्म जनता चरणं जगत्पू
मौढ्य मदाढ्यदृढ मुद्रित मान्द्रनन्द्र ।
दीपाशुगष्टि । यि सद्य सुदेवि पुसा
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशुभिदामुपैति ।।३८
साहित्य शाब्दिक रसामृत पूरिताया
सत्तर्क कर्कस महोर्मि मनोरमाया ।
पारंनिरमशेष कलिदिकाया
त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभते ।।३९
सस्थैरुपर्युपरिलोकमिन्नोक सोज्ञा
व्योम्नोगुरुज्ञ कविनि.सह सख्यमुच्चै ।
अन्योन्यमान्यमिति ते यदवैमि मात:
त्रास विहायभवतस्स्मरणाद्व्रजंति ।।४०
देवाइय त्यजनिमव तव प्रशादात
प्राप्नोत्यहो प्रकृति म न्मिन मानवीया ।
व्यक्त त्वचित्यमहिमा प्रतिभाति तीर्यग्
मर्त्याः भवंति मकरध्वजतुल्यरूपाः ।।४१
ये चानवद्य पदवी प्रतिपद्य पद्मे
त्वच्छिष्यता वपुषिवास रति लभते ।
नोतुग्रहातव शिवास्पदमाप्यते यत्
सद्य: स्वयं विगतबंधभया भवंति ।।४२
इदो कलेव विमलापि कलक मुक्ता
गगेव पावन करी न जलाशयापि ।
स्यात्तस्य भारति सहश्रमुखीमनीषा
यस्तावकस्तवमिमं मतिमानधीते ।।४३
योहज्जयो कृत जयो गुरु खेमकर्ण
पादप्रसाद मुदितो मुदितो गुरुधर्मसिह: ।
वाग्देवि भूम्निभवतीभिरभिज्ञ सघे
तं मानतुंगभवशा समुपैति लक्ष्मी ।।४४

इति भक्तामरस्यानिमपदांकित ब्राह्मी स्तोत्र समाप्त ।
लेखितमिद पुस्तक ऋषि प्रेमचदेन स्वार्थमिति ।

श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली-३२

(पृ० ४ का शेषांश)

सेन पुन्नाट के हरिवशपुराण (७८३ ई०) का कोई उल्लेख नही किया और न जिनसेन-गुणभद्र के महापुराण (लगभग ८५० ई०) का ही, अत वह ७८३ के पूर्व ही हुए होने चाहिए, कुछ लचर प्रतीत होता है। इन तीनो आचार्यों ने भी तो स्वयभू या उसके ग्रथों का कोई उल्लेख नही किया है। हमे तो ऐसा लगता है कि स्वयभू और हरिवशकार जिनसेन प्राय ममसामयिक थे। स्वयभू द्वारा उल्लेखित उसका आश्रयदाता ध्रुवराय धवल एव राष्ट्रकूट नरेश ध्रुवराज धारावर्ण निरुपम (७७९-७९३ उ०) से अभिन्न प्रतीत होता है। धवल या धवलइय उसका भी एक विरुद रहा प्रतीत होता है। ध्रुव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोविन्द तृ० —जगतुग-त्रिभुवन-धवल (७९३-८१४ ई०) त्रिभुवनस्वयभू का बढइयगोबिन्द नामक आश्रयदाता रहा हो सकता है। अतएव स्वयंभू का साहित्य-सृजन लगभग ७७० ई० से ७९५ ई० रहा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि अपने उत्तर भारतीय अभियान मे राष्ट्रकूट ध्रुवराज कन्नोज से राज्यश्रेष्ठि रयडा धनञ्जय और उसके आश्रित कवि स्वयंभू को सपरिवार अपनी राजधानी एलउर मे लिवा लाया था—पउमचरिउ का प्रारम्भ कन्नौज मे हुआ, समाप्ति एलउर मे हुई। शेष ग्रथ भी राष्ट्रकूटो के आश्रय में ही रखे गये। कवि के मूल निवास के विषय मे मतभेद है—कुछ उमे कन्नोज, कुछ वाराणसी, साकेत विदर्भ (वरार), महाराष्ट्र या कर्णाटक अनुमान करते है। राष्ट्रकूटो के मान्यखेटपूर्व राजधानी एलाउर (एलोरा) महाराष्ट्र एव विदर्भ के सन्धिस्थल के निकट ही है। स्वयभू के जीवन के अतिम वर्षों का भी कोई ज्ञान नही है—ऐसा लगता है कि वह एकाएक गृहास्थाश्रम से उदासीन होकर संभवतया वाटग्राम के स्वामि वीरसेन के सस्थान मे रहकर आत्मकल्याणरत हो गया था। एक अनुमान यह भी है कि स्वामि जिनसेन के जयधवलाटीका विषयक 'श्रीपाल सपालित:' पद से अभिप्राय स्वयभू से ही हो जिन्होने गृहत्याग करके श्रीपाल नाम धारण कर लिया था। उनके अधूरे अपभ्रंश महाकाव्यो का संरक्षण सपादन एवं पूर्ति उनके सुयोग्य कविपुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने की।

अस्तु, कविराज स्वयंभूदेव विषयक अभी भी अनेक तथ्य अन्वेषणीय एवं गवेषणीय हैं। अनेक सूत्र अभी भी ढीले विवादास्पद, अनिश्चित या अस्पष्ट हैं। सम्यक् विशेषाध्ययन से ही वे खुलेंगे और सुस्पष्ट होंगे।

—ज्योति निकुज, चारबाग, लखनऊ-१९

गुना में संरक्षित 'खो' की जैन प्रतिमाएं

नरेशकुमार पाठक

मध्य प्रदेश के गुना जिले में कुसुम खो नामक ग्राम किसी समय वैभव सम्पन्न स्थान था परन्तु समय के साथ ही सारा वैभव उजड़ गया केवल कलाकारों की धरोहर खण्डहरों के रूप मे बिखरी पडी हुई है। यहां पर वर्तमान मे खन्डहर के रूप मे जैन मदिरों के अवशेष पड़े हुए हैं। यही से प्राप्त दस जैन प्रतिमायें जैन समाज द्वारा लाकर वर्तमान मे जैन धर्मशाला स्टेशन रोड गुना में संग्रहित किया है। सरक्षित प्रतिमाओं का विवरण निम्नलिखित है :—

आदिनाथ :—

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित है। उनके केश स्कन्ध तक फैले हुए हैं। लम्बे कर्ण चाप एव सिर पर कुन्तलित केशराशि, पीछे प्रभावली का अकन है। वितान में त्रिक्षत्र है। त्रिक्षत्र के दोनो ओर विद्याधर युगल एव अभिषेक करते हुए हाथियो का शिल्पांकन है। तीर्थंकर के दोनो ओर भरत और बाहुबली को आराधक के रूप में अकित किया गया है। पाद पीठ पर यक्ष कुबेर एव यक्षणी चक्रेश्वरी का आलेखन है।

शान्तिनाथ :—

कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के हाथ व सिर भग्न है। सिर के पीछे अलकृत प्रभावली एवं वक्ष स्थल पर श्री वत्स प्रतीक का अकन है। वितान में त्रिक्षत्र एवं अभिषेक करते हुए गज अकित है। परिकर में जिन प्रतिमा एवं गज व्यालो का आलेखन है। तीर्थंकर के दोनों तरफ परिचारक इन्द्र आदि आंशिक रूप से खडित अवस्था में खड़े हैं। पादपीठ पर भगवान शान्तिनाथ का ध्वज लाछन हिरण तथा यक्ष गरुण यक्षणी महा मानसी का आलेखन हैं। पास मे ही दोनो ओर अंजली हस्त मुद्रा मे भक्तगण बैठे हुए है।

नेमिनाथ :—

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित मूर्ति के हाथ व सिर, दांया पैर भग्न है। प्रतिमा मध्य से टूटने के कारण दो खन्डो मे है। भगवान नेमिनाथ के दोनों ओर पद्मासन एव कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमाओं का अंकन है। पादपीठ दोनो पार्श्व मे चामर धारी परिचारक खड़े हैं। चौकी पर नेमिनाथ का ध्वज लांछन शख तथा यक्ष गोमेद यक्षी अबिका का आलेखन है।

पार्श्वनाथ :— तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाएं संग्रहित है। जिनमे से दो पद्मासन मे एव दो कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं! प्रथम पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित तीर्थंकर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, सिर के ऊपर सप्तफण नागमौलि है। वितान में त्रिक्षत्र, अभिषेक करते हुए गज, विद्याधर एवं जिन प्रतिमाओं का अंकन है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ में नागफण मौलि से युक्त परिचारिका बनी है। पादपीठ पर यक्षणी पद्मावती का आलेखन है।

दूसरी प्रतिमा सिंह युक्त गोलाकार अलकृत पादपीठ पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे शिल्पाकित पार्श्वनाथ के दोनो पैर तथा दाहिना हाथ भग्न है। सिर पर सप्तफण नाग मौलि, वितान मे त्रिछत्रावली, दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गज, विद्याधरो का अकन है। तीर्थंकर के दायें ओर खण्डित अवस्था मे परिचारको का अंकन है। परिकर मे गज व्याल तथा जिन प्रतिमा बनी हुई है। पादपीठ पर यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती का आलेखन है।

तीसरी मूर्ति मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि वितान मे त्रिछत्र, अभिषेक रहते हुए गज, विद्याधर, परिकर में गज व्याल आदि का आलेखन है। नीचे दायी ओर चवरधारी एव बायी ओर सेविका का शिल्पाकन है।

चौथी कायोत्सर्ग मे उपरोक्त प्रतिमा के समान, कुन्तलित केश, कर्णचाप, सप्तफण नाग मौलि, त्रिछत्र अभिषेक करते हुए गज, विद्याधर, व्याल आकृति, चावरधारी सेविका आदि का अकन है। केवल यक्ष धरणेन्द्र व यक्षणी पद्मावती का आलेखन ही विशेष उल्लेखनीय है।

लांछन विहीन तीर्थंकर :—

सग्रह मे दो लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाये सुरक्षित है। प्रथम पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे अकित तीर्थंकर के दोनो हाथ टूटे हुये हैं। सिर पर कुन्तलित केशराशि कर्णचाप एव सिर के पीछे प्रभावली का आलेखन है। तीर्थंकर के पार्श्व मे चावरधारी परिचारक वितान में त्रिछत्र, लघु मन्दिर अलकरण, मालाधारी विद्याधर, व्याली एव जिन प्रतिमाओ का अंकन है।

दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित तीर्थंकर के दोनो हाथ कमर से टूट जाने के कारण दो भागों मे है। सिर पर कुन्तलितकेश, वक्षस्थल पर श्रीवृक्ष प्रतीक अकित है। परिकर मे मयक, गज, व्याल, पादपीठ पर अजलीहस्त मे सेविकाओ का अंकन है।

जिन प्रतिमा वितान :—

यह जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित कलाकृति पर चित्रित दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गज एव विद्याधर युगलोंका आलेखन है। केन्द्रीय पुरातत्व सग्रहालय गुजरी महल, ग्वालियर (म० प्र०)

बिजोलिया अभिलेख [वि. सं. १२२६] में जैनदर्शनविषयक सिद्धांतोंके उल्लेख

☐ श्री कृष्णगोपाल शर्मा[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से विजोलिया अभिलेख[2] (वि. सं. १२२६) मुख्यतः इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह सांभर एवं अजमेर के चौहानों की वंशावली पर प्रकाश डालता है। अभिलेख का उद्देश्य दिगम्बर जैन लोलाक द्वारा पार्श्वनाथ मंदिर की स्थापना को लेखांकित करना है। अभिलेख में यत्रतत्र जैनदर्शनविषयक सिद्धांतों के प्रच्छन्न उल्लेख भी हैं। उन्ही पर हम विचार करना चाहते हैं।

अभिलेख के श्लोक ४१ का पाठ है—

'षट(ट्खं)डागमबद्ध सौहृदभराः षड्जीवरक्षेश्वराः षट्भे(ड्भे)देंद्रियवस्यता परिकराः षट्म्र्मकृ(क्लृ)प्तादराः [१]षट्षं(ट्खं)डावनिकीर्ति पालनपराः ष(षा)ट्गु(ड्गु)-ण्य चिंताकराः षट्(ड्)दृष्टयंवु(बु)जभास्करा[ः]समभवः षटदे(उदे)शलस्यांगजाः ॥

'षट्खंडागम' से सम्भवतः अभिप्राय सृष्टि के छः खन्डों से सम्बद्ध आगम साहित्य से है। ये छः खन्ड छः द्रव्योंके आधार पर विभाजित है—जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म।

'षड्जीव हैं—पृथ्वी, अप, तेजस, वायु, वनस्पति एवं त्रस। प्रथम पांच स्थावर हैं एवं ऐकेन्द्रिय हैं, त्रस उस जीव को कहा जाता है जिसके पास एक से अधिक इन्द्रियां हैं।

इंद्रियाँ पाँच हैं—,स्पर्शरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणि किन्तु उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित 'षड्-इन्द्रिय' में 'मनस 'जिसे ईषदिन्द्रिय माना जाता है, शामिल प्रतीत होता है।

एक श्रावक के 'षट्कर्म' का विवरण उमास्वामी श्रावकाचार के इस श्लोक से मिलता है—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥

'षड्गुण' का क्या अभिप्राय है, कह पाना मुश्किल है। श्री अक्षयकीर्ति व्यास के अनुसार इसे छः मान्य राजनीतिक इष्टकरों (political expedients) में समीकृत किया जा सकता है—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं आश्रय।[3]

दिगम्बर जैन सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी के छः खण्ड हैं (षट्खण्ड)। उनमें से एक आर्य खण्ड है जो गंगा एवं सिंधु नदी के मध्य स्थित है। इस खण्ड से बाहर स्थित सभी प्रदेश म्लेच्छ खंड के अन्तर्गत आते हैं।

'षड्दृष्टि' का प्रयोग षड्दर्शन के लिए किया गया प्रतीत होता है जो इस प्रकार हैं—लोकायतिक, सौगत, सांख्य, योग, प्रभाकर एवं जैमिनीय।

अभिलेख के श्लोक ४८ का पाठ है—

'पंचाचारपरायणात्ममतयः। पंचांगमंत्रोज्व(ज्ज्व)लाः। पंचज्ञानविचारणासुचतुराः। पंचेंद्रियार्थोज्जयाः। श्रीमत्पंचगुरुप्रणाममनसः पचाणुशुद्धव्रता पंचैते तनया गृह[ीतवि]-नयाः श्रीसीयकश्रेष्ठिनः ॥

'पंचाचार' हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चरित्राचार एवं तपाचार जैसा कि नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह के अध्याय तीन की गाथा ५२ से स्पष्ट है :—

दंसणणाणपहाणे वीरियचरित्रवरतवायारे।
अप्प परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥

'पंचांग मंत्र' से सम्भवतः अभिप्राय उपासना की प्रक्रिया से सम्बद्ध पांच मंत्र युक्त चरणों से है—आह्वान, स्थापन, संनिधिकरण, पूजन एवं विसर्जन।

पंचज्ञान की जानकारी इस सूत्र से मिलती है—मतिश्रुतावधिमन. पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।[4]

'पंचइंद्रियार्थ' हैं—स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः।[5]

पचगुरु है—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय एवं सर्व साधु जैसाकि बहुश्रुत जैनमंत्र से ज्ञात होता है—

णमो अरहंताणं णमोसिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सब्ब साहूणं ॥

'पंचव्रत' हैं—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।[6]

—५०६, गोविन्दराजियों का रास्ता
चांदपोल बाजार, जयपुर

---

१. यू० जी० सी० रिसर्च फैलो, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

२. यहाँ प्रस्तुत पाठ एवं उसकी व्याख्या पं० अक्षयकीर्ति व्यास के पत्र "बिझोली राक इन्सक्रिप्सन आव चाहमान सोमेश्वर : वि. स. १२२६" पर आधारित है। देखें इपिग्राफिया इंडिका, vol, xxvi, पृ०-८४-१०२.

३. वही, पृ० १०७, पादटिप्पणी १.

४. उमास्वामी, तत्त्वार्थसंग्रह, अध्याय १ सूत्र ६.

५. वही, अ. २, सू० २०

६. वही, अ. ७, सू. १

शान्तिनाथ पुराण का काव्यात्मक वैभव

□ कु० मृदुलकुमारी शर्मा

भाषा—अगोचर घटनाओं अथवा भावों को यथा-सम्भव गोचर तथा मूर्त रूप में प्रकट करना एक श्रेष्ठ कवि का लक्ष्य होता है। तभी हृदय में उद्बुद्ध हुए भाव रसावस्था तक पहुंचते हैं। भाषा, भावो को वहन करने का साधन है। जिस कवि की भाषा जितनी अधिक सबल और प्रसङ्गोचित होगी, भावो की उतनी अधिक तीव्र अनुभूति वह अपनी कविता के द्वारा करा सकेगा। अत· एव भाषा का सरल एव व्याकरण सम्मत होना अनिवार्य है।

"शान्तिनाथ पुराण" सस्कृत ग्रंथों मे श्रेष्ठ प्रतीक है। इसमे 'असग' ने रसानुकूल भाषा का प्रवाह प्रवाहित किया है। कवि के हृदय सागर में अनन्त शब्दो का भडार है जिससे उसे किसी अर्थ के वर्णन में शब्दो की कमी अनुभव नही होती। भाषा किसी शिथिलता के बिना अजस्र गति से आगे बढ़ती है। इसका उदाहरण दर्शनीय है—

"प्रभो क्षान्तिः स्त्रियो लज्जा शौर्यं शस्त्रोपजीविनः।
विभूषणमिति प्राहुर्वैराग्यं च तपस्विनः॥ शा. पु. ४।३६

अर्थात् प्रभु का आभूषण क्षमा है, स्त्री का आभूषण लज्जा है, सैनिक का आभूषण शूरता तथा तपस्वी का आभूषण वैराग्य कहा गया है।

महाकवि असग का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होने जिस स्थल पर जिस प्रकार के भावो का चित्रण किया हैं। उसके अनुरूप ही भाषा का प्रयोग परिलक्षित होता है। चतुर्थ सर्ग मे युद्ध वर्णन प्रसङ्ग में शब्द योजना, कठोर ध्वनि युक्त युद्ध के वातावरण को उत्पन्न करने मे सहयोग देती है—

"स सांनहनिकं शंखं पूरयित्वा त्वरान्वितः।
चतुरङ्गा तत. सेनां सभ्रान्तां समनीनहत्॥
आस्थानाल्लीलया गत्वा स्वावासान्खेचरेश्वराः।
अकाण्डं रणसंक्षोभादपि स्वैरमदंशयन्॥ शा. पु. ४।८६-८७

अर्थात् शीघ्रता से युक्त सेनापति ने युद्ध सम्बन्धी शंख फूककर हड़बड़ाई हुई चतुरङ्ग सेना को तैयार किया। विद्याधर राजाओं ने सभा से लीला पूर्वक अपने घर जाकर असमय में युद्ध की हलचल होने पर भी स्वेच्छा से धीरे-धीरे कवच धारण किये।

महाकवि असग में शब्द चयन की अपूर्व शक्ति है। भाषा उनकी इच्छा की अनुगामिनी है। वह अपने आप ही भावानुरूप ढल जाती है। समास प्रधान भाषा और संयुक्त वर्णयोजना ने काव्य को अत्यन्त ओजस्वी बना दिया है। नवम सर्ग में राजा वज्रायुध के गुणों की प्रशंसा में इसी प्रकार की भाषा द्रष्टव्य है—

"अमदः प्रमदोपेतः सुनयो विनयान्वितः।
सूक्ष्मदृष्टिर्विशालाक्षो यो विभातिस्म सास्मितः॥६।३१

अर्थात् मन्द मुस्कान युक्त जो पुत्र गर्व रहित होकर भी बहुत भारी गर्व सहित था (पक्ष मे—हर्षयुक्त था), अच्छे नय से युक्त होकर भी नय के अभाव सहित था (पक्ष मे—विनय गुण से युक्त था), और सूक्ष्मनेत्रों से सहित होकर भी बड़े-बड़े नेत्रो से सहित था (पक्ष मे—गहराई से पदार्थ को देखने वाला होकर भी बड़े-बड़े नेत्रों से सहित था।

असग ने भाषा मे शृंगारात्मक हाव भाव विलासों का भी कलात्मक हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है—

खेचरीः परितो वाति धुन्वन्नलकवल्लरीः।
एष तद्वदनामोदमादित्सुरिव मारुतः॥ शा. पु. ३।२४

अर्थात् विद्याधरियो के चारो ओर उनकी केशरूपी लताओं को कम्पित करती हुई वायु ऐसी बह रही है, मानों उनके मुखों की सुगन्ध को ग्रहण करना चाहती हो।

राजा को मुनि के रूप मे प्रदर्शित करते हुए शान्तिनाथ पुराण की भाषा दुरूह हो गई है। राजा मेघरथ का वर्णन इसी प्रकार का है—

ध्यानाच्छिथिलगात्रेभ्य: पतद्भिर्मणिभूषणैः ।
रागभावैरिवान्तःस्थैर्मुच्यमानं समन्ततः ॥
अतरङ्गमिवाम्भोधिमकाननमिवाचलम् ।
क्ष्माप ददृशतुर्देव्यौ तं विमुक्तपरिच्छदम् ॥१२'८०-८१

अर्थात् ध्यान से शिथिल गिरते हुए मणिमय आभूषणों से जो ऐसे जान पड़ते थे, मानो भीतर स्थित रागभाव ही उन्हें सब ओर से छोड़ रहा हो, जो लहरो से रहित समुद्र के समान वन से रहित पर्वत के समान थे, जिन्होंने सब वस्त्रादि छोड़ दिये थे, ऐसे राजा मेघरथ को देवाङ्गनाओं ने देखा ।

शैली—शैली के स्वरूप का उल्लेख करते हुए बाण ने कहा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुरो रस. ।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥
हर्षचरित-प्रस्तावना ८

अर्थात् नूतन एवं चमत्कार पूर्ण अर्थ, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति सरल, श्लेष, स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाला रस तथा अक्षरों की दृढ़बन्धतायें सभी शैली की विशेषतायें है, जो किसी काव्य में एक साथ प्राप्त होनी कठिन है ।

शातिनाथ पुराण की शैली सरल, प्रभावशाली एव शान्त है । इनकी शैली को साधारण काव्य की उत्तम शैली कहा जा सकता है । अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त 'असग' की भाषा, वर्णों का शिथिलता रहित प्रयोग एव लालित्य, कठोर वर्णों का अभाव तथा अर्थाभिव्यक्ति मे पूर्णत: शब्दों की योजना—यह सब उनको महाकवि सिद्ध करती हैं ।

शान्तिनाथ पुराण मे यथास्थान धार्मिक उपदेशो का भी समावेश किया गया है । अपराजित की पुत्री दीक्षा-ग्रहण करने की इच्छुक होकर अपनी सखियों से कहती है—

वृथैव विषयासङ्गात् क्लिशित्वा केवल गृहे ।
प्राणिति प्राकृतो लोकस्तत्किं ब्रूत सतां मतम् ॥
धर्म बुभुत्सवः सार्वमेतयामस्तपोवनम् ।
यतध्वं व्रतशीलादौ कृषीध्वं स्वहितं तपः ॥
शा. पु. ६।१०६-१०७

अर्थात् साधारण प्राणी विषयासक्ति के कारण घर मे क्लेश उठाकर व्यर्थ ही जीता है, वह क्या सत्पुरुषों को इष्ट हो सकता है ? कहो ! आओ, सर्वहितकारी धर्म को जानने की इच्छा रखती हुई हम तपोवन को चलें, व्रतशील आदि मे प्रयत्न करें तथा आत्महितकारी तप करे ।

इनके काव्य मे नैतिकता और धार्मिकता के प्रति झुकाव है । इस ग्रथ मे अनेक कथाओं को जोड़कर रोचक बनाया गया है, जिनमे स्थान-स्थान पर सुन्दर विचारो का समन्वय किया गया है । स्वार्थपरक इच्छाओं का त्याग, सार्वभौमिक क्रियाशील परोपकार की भावना, व्याख्यान, नैतिकता तथा उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है । कहीं-कही सशक्तता के साथ ओज तथा प्रसाद गुण युक्त शैली के भी दर्शन होते हैं यथा—

प्रज्ञोत्साहबलोद्योग धैर्य शौर्यक्षमान्वितः ।
जयत्येकोऽप्यरीन्कृत्स्नान्कि पुनर्द्वौ सुसंगतौ ॥ ८।५६

अर्थात् प्रज्ञा, उत्साह, बल, उद्योग, धैर्य, शौर्य, क्षमा सहित एक ही पुरुष बहुत से शत्रुओं को जीत लेता है फिर हम दो भाई मिलकर क्या नहीं जीत सकेंगे ।

इनके उद्देश्य अभिव्यक्ति की यथार्थता तथा अर्थ की स्पष्टता को प्रकट करते है ।

रस योजना—रस काव्य की आत्मा है उसके बिना काव्य की वही दशा होती है जो आत्मा के बिना देह की होती है । 'असग' रससिद्ध कवि है । उनकी कृतियो मे प्रायः सभी रस उपलब्ध हैं किन्तु जैनधर्मी होने के कारण उन्होने विषयासक्त जनों को मोक्ष मार्ग दिखाने के लिए 'शान्त रस' से पूर्ण काव्य रचा है शांतरस अङ्गी है शेष सभी रस अङ्ग है । शांतिनाथ पुराण के नायक अन्त मे विरक्त होकर शांति की दशा प्राप्त करते हैं । षष्ठ सर्ग मे कनकश्री की मन स्थिति 'शांत रस' की उत्पन्न करती है—

तस्मात्प्रव्रजन श्रेयो न श्रेयो मे गृहस्थता ।
कलङ्कक्षालनोपायो नान्योऽस्ति तपसोविना ॥ शा. पु. ६।१५

अर्थात् दीक्षा लेना ही मेरे लिए कल्याणकारी है, गृहस्थपन कल्याणकारो नही है क्योकि तप के बिना कलङ्क धोने का दूसरा उपाय नही है ।

काव्य मे शांतरस के अनेक प्रसङ्ग आये हैं जिन्हें कवि ने पूर्ण मनोयोग से पल्लवित किया है यथा रूप ह्रास की बात सुनकर रानी प्रियमित्रा वैराग्य चिन्तन करती है

तब मेघरथ उपदेश देते हैं—

अनेक रागसकीर्ण घन लग्नमपि क्षणात् ।
मानुष्य यौवन वित्त नश्यतीन्दुधनुर्यथा ।।
वपुर्निसर्गबीभत्स पूतिगन्धि विनश्वरम् ।
मलस्यन्दिनवद्वार किं रम्य कृमि सकुलम् ।।
शा. पु. १२।९०-१००

अर्थात् जो स्वभाव से ग्लानि युक्त, दुर्गन्धमय, विनश्वर है, जिसके नवद्वार मल को झराते रहते हैं तथा जो कीडो से भरा हुआ है ऐसा यह शरीर क्या रमणीय है ? अर्थात् नही।

शान्तिनाथ पुराण मे "वीर रस" का भी उत्कृष्ट वर्णन हुआ है । पचम सर्ग युद्ध की गर्वोक्तियो से सयुक्त है—

स वामकर शाखाभि रेजे खड्ग परामृशन् ।
तत्रैव निश्चलां कुर्वन्प्रचलन्ती जयश्रियम् ।। ५।७९

अर्थात् राजा अपराजित बायें हाथ की अगुलियो से तलवार का स्पर्श करता हुआ ऐसा सुशोभित हुआ, मानो चञ्चल विजय लक्ष्मी को उसी पर निश्चल कर रहा हो।

वीर रस की धारा कही-कही रौद्र रूप मे परिणत हो जाती है तब 'रौद्र रस' के दर्शन होते हैं—

ततः कश्चित्कषायाक्षः क्रुद्धो दष्टाधरस्तदा ।
आहतोच्चैः स्वमेवास वाम दक्षिण पाणिना ।। शा पु. ४।१८

अर्थात् जिसके नेत्र लाल हो रहे थे, अत्यन्त कुपित था और ओठ को डस रहा था, ऐसा कोई वीर दाहिने हाथ से बांयें कन्धे को जोर-जोर से ताड़ित कर रहा था ।

युद्ध भूमि के वर्णन मे यत्र तत्र 'बीभत्स रस' भी उत्पन्न होता है । यथा —

उच्चैः रेसुः शिवा मत्ताः प्रपीय रुधिरासवम् ।
शीर्णसंनहनच्छेद नीलाम्भोरुह वासितम् ।। शा. पु. ५।३९

अर्थात् जीर्ण शीर्ण हड्डी के खण्ड रूपी नील कमलो से युक्त रुधिर रूपी मदिरा को पीकर पागल हुए शृगाल उच्च स्वर से शब्द कर रहे थे ।

'राजा श्री विजय तथा अशनिघोष के मध्य युद्ध वर्णन में भयानक रस' साकार हो जाता है—

अवध्यमानमन्येषां विद्यास्त्र वीक्ष्य विव्यथे ।
आसुरेयो जितान्योऽपि स शूरः शूरभीकरः ।। शा. पु. ७।९४

अर्थात् राजा श्री विजय के द्वारा छोड़े गये अवध्य विद्यास्त्र को देखकर अशनिघोष यद्यपि दूसरों को जीतने वाला था, तब भी भयभीत हो गया ।

शान्तिनाथ पुराण मे विभिन्न प्रसङ्गों मे आश्चर्य उत्पन्न करने वाली घटनाए उपस्थित हुई हैं जिससे "अद्भुत रस" भी यथास्थान प्रयुक्त हुआ है—

वीक्षमाणा परा भूति तस्य प्रविशत पुरम् ।
इतिसौधस्थिता प्राहु विस्मयात्पुरयोषित. ।।
निरुच्छ्वासमिद व्याप्त नगर सर्वतः सुरैः ।
अन्तर्बहिश्च कस्येय लक्ष्मीर्लोकातिशायिनी ।।
शा. पु. १३।१८२-१८३

अर्थात् नगर मे प्रवेश करते हुए उनकी उत्कृष्ट विभूति को देखकर महलो पर चढी नगर की स्त्रियाँ आश्चर्य से ऐसा कह रही थी । देखो, यह नगर भीतर और बाहर, सब ओर देवो से ऐसा व्याप्त हो गया है कि सांस लेने के लिए भी स्थान नही है, यह लोकोत्तर लक्ष्मी किसकी है ?

"शृङ्गार रस" के प्रसङ्ग अत्यन्त सीमित है । तथापि विजयार्द्ध पर्वत पर विद्याधरियो की शोभा शृङ्गार रस को प्रकट करती है—

उत्तरीयैकदेशेन पिधाय स्तनमण्डलम् ।
द्योतमाना स्फुरत्कान्तिशोणदन्तच्छदत्विषा ।।
निर्गच्छन्ती लतागेहाच्चञ्चलस्ति स्रस्तमूर्धजा ।
इय काचिद्रतान्तेऽस्मात् स्वेदबिन्दुचितानना ।।
शा. पु. ३।२५-२६

अर्थात् जो उत्तरीय वस्त्र के अञ्चल से स्तन मण्डल को आच्छादित कर रही है, ओठो की लाल-लाल कान्ति से शोभायमान है, जिसके केश बिखरे हुए है तथा जिसका मुख पसीने की बूदो से व्याप्त है । ऐसी यह कोई स्त्री संभोग के बाद लतागृह से बाहर निकलती हुई सुशोभित हो रही है ।

अलङ्कार योजना—अलङ्कार रस के उपकारक होते है ।अलकारो के अस्वाभाविक तथा अस्थान प्रयोग से कविता कामिनी की दशा भारी एव बेडोल कुण्डलो के समान हो जाती है । काव्य को प्रभावशाली बनाने मे अलंकार महत्वपूर्ण हैं ।

शान्तिनाथ पुराण के बाह्य एव आन्तरिक दोनों पक्षों को सौन्दर्ययुक्त करने हेतु 'असग' ने शब्दालंकार तथा अर्थालकार की योजना की है ।

उनके अनुप्रास तथा यमक अलंकार नाद सौन्दर्य मे वृद्धि करते हैं और प्रस्तुत भावों के उत्कर्ष में सहायक है। 'यमक का उदाहरण प्रस्तुत है—

अस्ति लक्ष्मीवतां धाम पुरी यत्र प्रभाकरी।
प्रभाकरी प्रभा यस्यां पताकाभिर्निरुध्यते ॥ १।२१

अर्थात् जिस वत्सकावती देश में धनाढ्य पुरुषो के स्थान स्वरूप 'प्रभाकरी नाम की वह नगरी' विद्यमान है जिसमें 'सूर्य की प्रभा' पताकाओं से रुकती रहती है।

शान्तिनाथ पुराण उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, अर्थान्तरन्यास अलंकारों का मानों भण्डार है। राजा दमितारि के वर्णन मे 'उत्प्रेक्षा' का आलम्बन लिया गया है—

कर्णाभरणमुक्तांशुच्छुरिताननशोभया ।
क्षयवृद्धियुत चन्द्रं हसन्तमिव सन्ततम् ॥ ३।७८

अर्थात् जो (दमितारि) कर्णाभरण सम्बन्धी मोतियों की किरणों से व्याप्त मुख की शोभा से ऐसा जान पड़ता था मानो क्षय और वृद्धिसे युक्त चन्द्रमा की हँसी कर रहा हो।

सप्तम सर्ग मे 'उपमा अलकार' की छटा दर्शनीय है—

तस्यामजीजनत्सूनुमर्ककीर्ति परतपम् ।
प्रभात इव स प्राच्यामर्क पद्मकवल्लभम् ॥ ७।१७

अर्थात् ज्वलनजटी ने वायुवेगा नाम की स्त्री से शत्रुओं को सतप्त करने वाला अर्ककीर्ति नाम का पुत्र उसी तरह उत्पन्न किया, जिस तरह प्रात:काल पूर्व दिशा में कमलो को अत्यन्त प्रिय सूर्य को उत्पन्न करती है।

राजा अनन्तवीर्य तथा दमितारि के युद्ध वर्णन मे 'असग' न सुन्दर रूपक" प्रस्तुत किया है—

स्वस्वामिनिधनात्क्रुद्धैरुद्धतैरात्मविक्रमात् ।
तत्रैव चक्रधारानौ सुभटैः शलभायितम् ॥ ५।११५

अर्थात् अपने स्वामी की मृत्यु से क्रुद्ध उद्दण्ड सुभटो ने यद्यपि अपना पराक्रम दिखाया, परन्तु वे उस चक्ररत्न की धारा रूपी अग्नि मे पतगे के समान जल मरे।

शान्तिनाथ पुराण के एकादश सर्ग मे राजा मेघरथ का 'श्लेषमय' वर्णन किया गया है—

पद्मानिवासपद्मोऽपि न जातु जलसगतः ।
सोऽभूतकुलप्रदीपोऽपि प्रवृद्धसुदशान्वितः ॥ ११।१०

अर्थात् जो लक्ष्मी का निवासभूत कमल होकर भी कभी जल की संगत नही था अर्थात् मूर्खों का संगत नही था तथा कुल का श्रेष्ठ दीपक होकर भी प्रवृद्ध उत्तम बत्ती से युक्त था अर्थात् श्रेष्ठ वृद्धजनों की उत्तम अवस्था सहित था।

श्लेष के अतिरिक्त 'दृष्टान्त अलंकार' भी यथास्थान सन्निविष्ट किया गया है। चतुर्थ सर्ग में चक्रवर्ती दमितारि का दूत कहता है—

द्विषतोऽपि पर साधुर्हितायैव प्रवर्तते ।
कि राहुममृतैश्चन्द्रो ग्रसमानं न तर्पयेत् ॥ ४।६६

अर्थात् सज्जन शत्रु को भी हित के लिए अत्यधिक प्रवृत्त करता है सो ठीक ही है क्योंकि क्या चन्द्रमा, ग्रसने वाले राहु को अमृत से संतप्त नहीं करता।

श्लेषगर्भित आर्थी परिसंख्या के भी स्थान-स्थान पर दर्शन होते है—

यत्रासीत्कोकिलेष्वेव सहकार परिभ्रमः ।
अत्यन्तकमलासः प्रत्यहं भ्रमरेषु च ॥ १३।१६

अर्थात् जहां (हस्तिनापुर में) सुगन्धित आमों पर परिभ्रमण करना कोयलों मे ही था, वहां के मनुष्यों में सहायक विषयक सन्देह नही था। कमलपुष्पों की प्राप्ति के लिए खेद भ्रमणो में ही प्रतिदिन देखा जाता था, वहाँ के मनुष्यो में लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अत्यधिक खेद नहीं देखा जाता था।

चतुर्थ सर्ग मे दमितारि की सेना अपराजित के पराक्रम को सुनकर भ्राति मे पड़ जाती है। जिससे "भ्रांति मान अलकार" दृष्टिगोचर होता है—

किं नामासौ रिपुः को वा कियत्तस्य बल महत् ।
चक्रवर्त्यपि स भ्रान्तः किं सत्यमपराजितः ॥ ४।६१

अर्थात् शत्रु किस नाम वाला है अथवा उसका महान बल कितना है? इस विषय मे चक्रवर्ती दमितारि भी भ्रान्त है, क्या सचमुच ही वह अपराजित (अजेय) है?

शांतिनाथ पुराण में 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' के द्वारा सुभाषित वचन प्रस्तुत किये गये हैं। यथा—

दूतिकां कान्तमानेतु विसर्ज्यापि समुत्सुका ।
प्रतस्थे स्वयमप्येका दुःसहोः हि मनोभवः ॥ १४।१४४

अर्थात् (चन्द्रोदय के समय कोई एक उत्कठिता स्त्री पति को लाने के लिये दूती को भेजकर स्वयं भी चल पड़ी, सो ठीक ही है क्योंकि काम दुख से सहन करने योग्य होता है।

छन्द योजना—महाकाव्य की परम्परा के अनुरूप काव्य में 'छन्द' का बहुत महत्त्व है। शान्तिनाथ पुराण में इसी परम्परा का निर्वाह हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'अनुष्टुप्' छन्द में निबद्ध है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन है और वहां 'शार्दूल विक्रीडित' छन्द प्रयोग किया गया है। यथा—

अनुष्टुप् छन्द—

तत्प्रतापयशोराशी मूर्ताविवमनोरमौ।
धर्मचक्रं पुरोधाय पुष्पदन्तावगच्छताम्॥ शा. पु. १६।२३२

शार्दूल विक्रीडितम्—

गीर्वाणैर्वेरिवस्यया गिरिवरः प्राये स शक्रादिभि।
मूर्तौ तत्क्षणरम्यतां क्षणरुचेः संप्राप्तवत्यां विभोः॥
अग्नीन्द्रा मुकुटप्रभानलशिखाज्वाला रुणाम्भोरुहे—
रानर्च्चुर्विरचय्यतत्प्रतिनिधिं सत्सम्पदा सिद्धये॥ १६।२४०

शान्तिनाथ पुराण में अन्य प्रयुक्त छंद निम्नलिखित है—

उत्पलमालभारिणी—

स्तवकमयमुन्मयूखमुक्तास्तबकित मध्यमनेकभक्तियुक्तम्।
सुरधृतमणिदण्डिक तदन्तर्निरुपममाविरभूत्परं वितानम्॥
शा. पु. १६।२२७

प्रहर्षिणी—

तस्यान्तस्त्रिभुवनभूतये जिनेन्द्रो याति स्म
प्रतिपदमेत्य नम्यमानः।
संभ्रान्तैः करधृतमगलाभिरामैर्देवेन्द्रैर्दिविभु-
विभूमिपैश्च भक्त्या॥ शा. पु. १६।२२८

इन्द्रवंशा—

तपोधनाः शिथिलितकर्मबन्धना महोदया सुरनतधीमहोदयाः।
तमन्वयुर्विधुमिव शान्तविग्रहा ग्रहाः शुभाः
शुभरुचयस्तमोपहम्॥ शा. पु. १६।२२९

वियोगिनी—

ननृते जयकेतुभिः पुरः परितर्ज्येव विवादिनः परान्।
यशसः प्रकरैरिवेशितुः शरदिन्दुद्युतिकान्तकान्तिभिः॥
शा. पु. १६।२३०

वसन्ततिलका—

उत्थापिता सुरवरैः पथि वैजयन्ती
मुक्ताफलप्रकरभिन्नदुकूलक्लृप्ता।
रेजे घनानृतरलीकृतचारुतारा दिग्नागनाथपदवी स्वयमागतेव॥
शा. पु. १६।२३१

उपजातिः—

पुरःसरा धूपघटन्वहन्तो वैश्वानरा विश्वसृजो विरेजुः।
फणामणिस्फारमरीचिदीपैरदीपि मार्गः फणिनां गणेन॥
शा. पु. १६।२३३

शान्तिनाथ पुराण का सूक्तिवैभव—

हमारा जीवन क्षेत्र विस्तीर्ण है। यहां विभिन्न विषयों के मधुर तथा कटु अनुभव प्राप्त होते रहते हैं। सूक्तियाँ वाणी का रत्न है, जो गम्भीर अनुभवों को व्यक्त करती है, इसके द्वारा धर्म सिद्धान्तों तथा नैतिक मूल्यों का महत्त्व प्रकट होता है। लोक में काव्य की प्रकृष्टता उसकी तीखी और मार्मिक सूक्तियो के द्वारा सिद्ध होती है।

सूक्ति का सामान्य अर्थ है—सु-उक्ति-सुन्दर या सौष्ठव पूर्ण कथन। सामान्य लोकवाणी से विचित्र प्रभावकारी विशेष कथन को ही आरम्भ में सूक्ति कहा गया होगा, लेकिन इस 'सूक्ति' शब्द का बोध आगे चलकर कवि वाणी के पर्याय मे होने लगा।

महाकवि राजशेखर ने सरस्वती को 'सूक्ति धेनु' कहा है—"कि कवियो की सरस्वती सूक्तिधेनु है, कवि जन सरस्वती रूपी गाय से सूक्ति दुहा करते हैं। सूक्ति अर्थात् काव्य।[1]

यह 'सूक्ति' शब्द मात्र ही काव्य की पहली परिभाषा है। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त (३२०–३७८ ई०) काव्य एवं सगीत विद्या में रुचि रखने वाला था। प्रयाग के अभिलेख मे प्रशसा पूर्वक उसे सूक्तमार्ग (सूक्ति काव्य की रचना करने वाला) कवि कहा गया है—

"सूक्त मार्ग की जिसकी सुभाषित रचनाए पठनीय हैं और जिसका काव्य भी अपनी अच्छी सूक्तियों के कारण अन्य कवियों के कल्पना विभव को उखाड़ देने वाला है। कौन सा गुण है, जो उसमें नही है। एक मात्र वही विद्वानों का आदर स्थान है।[2]

अन्यत्र स्थान पर सूक्ति को "कान से पिया जाने वाला अमृत" बताया गया है।[3]

काव्य में सूक्तियों का कर्णामृत रस काव्यरस से भिन्न

एक अलग ही आकर्षण है, प्रतिभावान् कवि अपनी भंगि-भणिति और सूक्ति रस के निबन्ध में एकाग्र होकर काव्य रस के औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता नही करते हैं। ऐसे कवियों पर खीझ कर "आनन्दवर्धन' ने लिखा है—

"अलंकार कहां रसाभिव्यक्ति का कारण बनता है, उसका एक नियम है, उसे भङ्ग कर अलकार की जो योजना की जाती है वह नियमतः रसभंग का कारण बनती है, इस प्रकार के उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में बहुत दिखाई पड़ते हैं, लेकिन रसभंग के ऐसे निदर्शन मैंने अलग अलग करके नही दिखाये, वह इसलिए कि अपनी हजार सूक्तियों से चमकने वाले उन महान् कवियो का दोष निकालना अपना ही दूषण हो जाता है।"[४]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि और रस की भांति कभी सूक्ति भी काव्य की कसौटी थी।

आचार्य 'कुन्टक' भी सूक्ति के चमत्कार के से प्रभावित रहे हैं। "उन्होंने सरस्वती को कवि के मुख चन्द्ररूपी रंगमन्दिर मे सूक्ति विलासो का अभिनय करने वाली नर्तकी कहा है।"[५]

कवि और काव्य की प्रशंसा में अनेक कवियो ने सूक्ति प्रशंसा का अभिधान किया है, ऐसे अनेक उदाहरण सुभाषित संग्रहों से परिपूर्ण है।[६]

"शान्तिनाथ पुराण" में महाकवि असग ने गम्भीर विषयों को व्यक्त करने वाली सूक्तियो को प्रस्तुत किया है। सूक्तियो को सरल, सुकोमल पदों में गुम्फित करके उन्हें सजीव और प्रभावशाली बना दिया है। नीतिविषयक वचन कवि के विशिष्ट ज्ञान तथा पांडित्य के परिचायक हैं।

विभिन्न प्रसंगों में यथास्थान महाकवि ने सज्जनों की स्तुति, दुर्जनों की निन्दा, धर्म, नीति, स्त्री विषयक सूक्तियों से शान्तिनाथ पुराण को अलंकृत किया है।

शान्तिनाथ पुराण में सुभाषित संचय इस प्रकार है—

"श्रेयसे हि सदा योगः कस्य न स्यात्महात्मनाम्"—

शा. पु. १।८८

अर्थात् महात्माओं का सदा योग प्राप्त होना किसके लिए कल्याणकारी नही होता? अर्थात् सभी के लिए कल्याण युक्त होता है।

"धीरा हि नयमार्गवित्"—२।४२

अर्थात् धीर वीर मनुष्य नीति के मार्ग का ज्ञाता होता है।

"संसर्गेण हि जायन्ते गुणा दोषाश्च देहिनाम्"—४।५४

अर्थात् प्राणियो मे गुण और दोष संसर्ग से ही होते हैं।

"कन्यका हि दुराचारा पित्रोः खेदाय जायते"—४।५६

अर्थात् कन्या का दुराचारी होना माता-पिता के लिए खेद का विषय होता है।

"स्त्रीजनोऽपि कुलोद्भूतः सहते न पराभवम्"—७।८९

अर्थात् कुलीन स्त्रियां भी पराभव को सहन नही करती हैं।

"आचारो हि समाचष्टे सदसच्च नृणां कुलम्"—८।४२

अर्थात् आचार ही मनुष्य के अच्छे और बुरे कुल को कह देता हैं।

"भवितव्यता हि बलीयसी"—१०।८७

अर्थात् होनहार बलवती होती है।

"सर्वं दुख पराधीनमात्माधीन परं सुखम्।"—१२।१०६

अर्थात् पराधीन सभी कार्य दुख है और स्वाधीन सभी कार्य परम सुख है।

मौ० कुंवरलाल गोबिन्द, बिजनौर

सन्दर्भ-सूची

१. या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्ति धेनुः सरस्वती॥
—काव्यमीमांसा अध्याय ३

२. सूक्तमार्गः कवि-मति-विभवोप्सारणं चापि काव्यम्।
को नु स्माद्योऽस्य न स्यद्गुणमति
विदुषां ध्यानपात्र य एकः॥८
—हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सिक्रप्सन पृ० ७३

३. 'कर्णामृतं सूक्तिरसम्'—विक्रमांकदेव चरित १।२६

४. ध्वन्यालोक—२।१६

५. वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दु लास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवी सूक्ति परिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्वलाम्॥
—वक्रोक्ति जीवित १।१

६. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥
—'बाणभट्ट'

हमारा व्यवहारिक आचार

□ श्री बाबूलाल जैन 'वक्ता', कलकत्ता

अज्ञानी बाहरी वस्तु का त्याग करता है परन्तु क्या समझ करके त्याग कर रहा है। वह कहता है यह वस्तु तो मेरी है मैं इसका मालिक हूं परन्तु मुझे इसको छोड देना चाहिए अगर नही छोडता हू तो नरक जाना पडेगा अगर छोड़ देता हू तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इससे ज्यादा चीज बदले मे मिल जायेगी—समाज मे प्रतिष्ठा हो जायेगी, लोग मुझे त्यागी कहेगे, मेरा नाम हो जायेगा ऐसा मानकर वह त्याग करता है परन्तु अभी भी वस्तु मे अपनापना नही गया। एक वह व्यक्ति है जो वस्तुओ मे बैठा है और उसमे मेरापना नही है जैसे कोई नुमाइश देख रहा हो। एक वह है जहा वस्तु नही परन्तु मेरापना है। अब विचार करना है सच्चा रास्ता क्या है? ज्ञानी कहता है भाई ये परवस्तु मेरी नही, मैं गलती से इन्हें अपनाया यह मेरी गलती है अब मुझे मेरी गलती समझ मे आ गयी जितना पर का ग्रहण है वह मेरी गलती है और जितना पर छूट गया वह मेरी गलती छूटी है मैंने कुछ किया नही। अज्ञानी समझ रहा है मैने कुछ किया है धन को छोड कर परिग्रह को त्याग करके कोई बड़ी बात की है इसलिए उसे अहकार हुए बिना रहता नही।

अगर यह व्यक्ति यह मानता है कि परवस्तु मे, धन मे, स्त्री मे, पुत्र मे, मकान-महल मे, गाड़ी-मोटरो मे सुख ता है अगर उनमे सुख मान रहा है तो उनको छोड़ते हुए भी समस्त परिग्रह का त्याग करने पर भी अभी पर छूटा नही है वह पर को पकड़े हुए है बाहर मे छोड़ दिया परतु अतर मे पकड़े हुए है। जैसे कोई अमरूद खाने मे आनन्द तो माने परन्तु डाक्टर के मना करने से नही खाता अथवा वायु बढ़ जाने के डर से नही खाता परन्तु उसमें आनन्द मानता है तो वस्तु छोड़ते हुए भी परिग्रह नहीं छूटा। अमरूद की Importance नही मिटी। वह परिग्रह इसलिए छोड़ रहा है कि भोगने से नरक जाना पड़ेगा। नही भोगूगा तो स्वर्ग मिल जायेगा। शास्त्र में मना किया है इसलिए नहीं भोगता है त्याग कर देता है परन्तु वस्तु की महिमा अभी बनी हुई है। क्या यह हमारी दशा नहीं है क्या हमारे जीवन से वस्तु की महिमा चली गई है क्या वस्तु की Importance नही रही क्या वस्तु Meaningless हो गई अगर नहीं तो अभी हम वही पर हैं कोई फरक नही पडा।

पहले वह तो ज्ञानरूप रहना चाहता है, इसलिए पहले उन चीजों को छोड़ता है जो ज्ञान को मतवाला बनाने वाली है अपने को भुलाने वाली है वास्तव में शराब नाम ही शराब नही परन्तु वे सभी वस्तु शराब है जिसको पीकर जिसको पाकर यह अपने को भूल जाता है मानवता को भूल जाता है इसलिए मानव बनने को उस आचरण से उन चीजो के सेवन से परहेज करेगा जो मानवता को अपने को भुला देती है ऐसी चीज है मास और मदिरा। दूसरे जीव का मास खाकर अपना पेट भरे वहां मानवता कहां है वह तो पशुता को ही प्राप्त नही हुआ परन्तु पशु हो गया यह कहना चाहिए। शराब तो नाम है किसी भी प्रकार का नशा उसके साथ मे शामिल है वह अपने आपको—मानवता को भुला देता है वह व्यक्ति को अपने आप से दूर करता है इसलिए ऐसी चीजो से बचता है। ससार के समस्त प्राणी मात्र को अपने जैसे निज आत्मवत् दिखता है तब यह कैसे चाहेगा मेरे द्वारा किसी जीव को कष्ट हो किसी की विराधना हो उससे बचने के लिए रात्रि भोजन का त्याग, पानी छानकर पीना, अन्य खाने के सामान को देख शोध कर काम में लेना। चलने में, बैठने मे किसी की विराधना न हो इसलिए समस्त क्रियाओं मे स्वच्छ वृत्ति को छोड़ता है। ऐसे व्यापारो से बचता है जहां जीवों की विराधना होने का डर होता है। उस हिसा वृति को भी चार भागों मे बाटा है—

(१) संकल्पी हिंसा—किसी जीव का सकल्प करके एक चीटी को भी नही मारता है यद्यपि उसके चलने में, उठने में, व्यापार में, घर के काम-काज में जीवों की विराधना होती है पर यह चीटी है इसको मार दूं ऐसा संकल्प करके एक जीव की भी विराधना नही करता।

(२) उद्योगी हिंसा—उसे कहते हैं जो व्यापार में होती है। यद्यपि ऐसा व्यापार नही करता जो जीव-हिंसा

का व्यापार है परन्तु व्यापार मे हिंसा होती है वह भी जैसे-जैसे राग हटता है उससे बचता जाता है। धन की तृष्णा नहीं रही, जो है उसमें सतोष है इसलिए व्यापार की जरूरत ही नही रहती।

(३) आरम्भी हिंसा—घर-गृहस्थी के कार्य मे जीवो की विराधना होती है अब देख शोध कर सब काम कर रहा है झाड़ू भी निकाली जाती है तो विवेक से निकाली जाती है। गेहूं को ज्यादा इकट्ठी नही करता जो कुछ मगाता है उसको धूप मे देता है जिससे उनमे जीवो की उत्पत्ति ही न हो। बिनने पर जो जीव निकलते है उसे अलग जगह पर रख देता है पैरों मे कूड़े घर मे नही फैकता। मच्छर को मारने का उपाय नही करता परन्तु यह कैसा प्रयत्न है कि मच्छर उत्पन्न ही न हो। हर तरह से कम से कम आरम्भ करता है और जिन सूक्ष्म जीवो को नही बचा सकता वहा अपने प्रमाद का राग का दोष मानता है और उस प्रमाद को दूर करने का उपाय करता है।

(४) बिरोधी हिंसा—अभी तक दूसरे को चलाकर उसको छूरा मारना नही चाहता परन्तु अपने देश पर, अपने घर पर कोई आक्रमण करे तो तलवार लेकर बाहर निकलता—देश की रक्षा करता है—घर की रक्षा करता है। अपने सामने अपनी स्त्री का शील कोई लूटे और वह कहे कि मेरे को कषाय नही करना उसको तो कायर कहा गया है वह तो तीव्र कषायी है। कमजोर की रक्षा करना अन्याय का प्रतिकार करना यह तीव्र राग नही परन्तु अन्याय के आगे झुक जाना यह तीव्र कषाय है। अभी गृहस्थ मे है इसलिए अभी साधु जैसी कषाय नही चली गयी। इस प्रकार विरोधी हिंसा मे प्रवृति होते हुए भी यही समझे अभी मेरे मे कितना राग है यह मेरा स्वरूप नही, यह उपादेय नही। लड़ाई मे जीत कर भी यही समझे कि देखो राग के कारण इस प्रकार की प्रवृति करनी पड़ी। यह राग न होता तो किसका देश किसका घर ? मेरा अपना तो अपना शरीर भी नही है मैं अपने स्वरूप स्वभाव में ठहर सकता तो इनसे क्या प्रयोजन था।

इसी प्रकार सत्यरूप प्रवृति करे—दूसरे को ठगने का तो सवाल ही नही परन्तु ऐसे कामों मे भी प्रवृति नही करता जैसे—(१) किसी को झूठी बात कह कर गलत रास्ते लगा दे—झूठा उपदेश दे दे। दूसरे की गुप्त बात को प्रगट करके उसे नीचा दिखा दे, उसको नुकसान पहुचा दे। (२) खोटे खाता-पत्तर बनाये, झूठा स्टाम्प बना लेवे आदि। (३) किसी ने भूल से अपना देना कम बता दिया उसकी गलती उसको समझावे। यह नही कहता उसने कम बताये। तो कहा—आपके दो सौ ले जाओ। (४) किसी की बात चेहरे वगैरह से जानकर प्रगट न करे। हित-मित प्रिय वचन बोले। किसी को चुभती बात न कहे जिससे उसके परिणाम बिगड़ जावें। सत्य भी ऐसा सत्य कहे जो अहिंसा से गर्भित हो। काने को काना कहना सत्य नही है क्योंकि इसमे हिंसा गर्भित है। झूठी गवाही देना आदि कार्य न करे। व्यापार मे भी किसी को खोटे रास्ते नही लगावें, उसके नुकसान होने का मार्ग जानकर न बतावे। असत्य की प्रवृति क्रोध मे, लोभ मे आयेगी—भय से और हसी मे होती है इससे इनसे बचाव करते हैं लोभ कषाय इतनी घट गयी है कि अन्य के धन की चाह ही नही अन्याय से कमाने का तो सवाल ही नही—न्याय मार्ग से कमाने मे भी कमी करने की चेष्टा करता रहता है अन्याय की परिभाषा हरेक व्यापारी वर्ग मे अलग-अलग है—डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, इजीनियर, नौकरी करने वाला, व्यापारी सभी व्यक्ति अपना व्यापार करते हुए भी ऐसा आचरण नही करे जो एक मानव की मानवता को तिरस्कार करने वाले हो—जहा मानवता रो पड़े ऐसा आचरण तो सज्जन पुरुष के लायक नही है जहा पैसा तो आ सकता है परन्तु मानवता चली जाती है। कोई तरह का व्यवहार किसी भी क्षेत्र मे करते हुए चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे राजनैतिक, चाहे धार्मिक हो, चाहे पारिवारिक देखना यह अगर ऐसा व्यवहार कोई मेरे साथ करता तो क्या मेरे को सुहावना लगता, क्या मेरी आत्मा को चोट नही पहुंचती। यह विचार, यह देखते ही हमे रास्ता दिखा देता है कि हमे दूसरे के साथ कैसे बोलना चाहिए—कैसा व्यवहार करना चाहिए और जहा कषाय कम होती है वहा वैसा अकारण होता ही है अन्यथा प्रकार नही होता।

अब निज में तो चोरी करता ही नही परन्तु दूसरे

को चोरी करने का उपाय भी नही बताता। उनको इस प्रकार की सलाह भी नही देता कि तुम इस प्रकार कर लो। चोरी के माल को कम दाम में बिकता हो, कोई कम दाम में देने को आया हम जानते हैं कि इसका दाम यह कम बता रहा है फिर भी उसको नही खरीदता। (३) राज के कानून के खिलाफ कोई काम नही करता—जैसे सेलटैक्स की चोरी, इनकमटैक्स की चोरी, ब्लैक मारकेट वगैरह। देने-लेने के बाद कम कंश रखना। (५) मिलावट करना।

ब्रह्मचर्य—पर स्त्री के ग्रहण का तो सवाल ही नही अपनी स्त्री में भी राग परणति को कम करता जा रहा है जितना स्वस्त्री के प्रति झुकाव है उसे अपनी गलती समझता है ऐसा व्यक्ति—स्त्री के रागपूर्ण कथाओ को नही सुनता ऐसे बाइसकोप वगैरह देखने से बचता है जिसमे स्त्री की नग्नता का प्रदर्शन किया जाता है। (२) अन्य स्त्री जो बनाव सिंगार ज्यादा करती है उनकी संगति मे न जावें। (३) पहले जो भोग भोगे हो उनको याद न करे। (४) अपने आपका भी सिंगार करने से यह भावना पैदा होती है कि कोई मेरे का देखे। इसलिए अपने आपका भी सिंगार न करें। स्वच्छ रखना अलग बात है शृंगार करना अलग बात है। (५) और ज्यादा गरम भोजन करने से भूख से ज्यादा खाने से भी बचे क्योंकि ऐसी बाते काम वासना को उत्तेजित करती है।

यहां तक कि अपने बच्चो के शादी विवाह के अलावा अन्य के बच्चो का शादी विवाह कराने मे अगुआ नही होता। जो दूषित आचरण की स्त्रिया है चाहे विवाहित हो अथवा वेश्यादिक हो उनसे सम्पर्क भी नही रखना। काम विकार के अगो को छोडकर अन्य रास्तो से काम मे प्रवृति नही करता। और अपनी स्त्री मे भी मर्यादा करता है कि महीने मे चार दफे, दो दफे—एक बार इत्यादिरूप से अपनी स्वेच्छा वृति को कम करता है।

ऐसी प्रवृति को प्राप्त है कि ससार शरीर भोगो मे विरक्त हो रहा है। जितना ग्रहण है उसे अपनी कमजोरी कमी समझता है उसे ग्रहण की महिमा नहीं है परन्तु पश्चाताप है भोगादिक से विरक्त हो रहा है। पहले स्वेच्छा वृति थी अन्यायपूर्ण थी वहां से न्यायपूर्ण में आता है फिर उसमें भी कमी करता जाता है।

(४) परिग्रह परिमाण—पहले धन वैभव की मर्यादा नही थी। अभी समस्त परिग्रह को नहीं छोड सकता परंतु अमर्यादा में अब मर्यादा करता है कि चार लाख ही रखूगा। देखने में यह मालूम देता है कि इतने कितना रखा है परन्तु तृष्णा पर दृष्टि डाली जाये तो मालूम होगा कोई भी व्यक्ति ऐसा नही जिसको तीन लोक की विभूति से कम की इच्छा हो अभिव्यक्त नही है परन्तु जैसे जैसे प्राप्ति होती जाती है तृष्णा उससे आगे बढती जाती है इतनी तृष्णा को घटाकर अगर किसी ने चार लाख की मर्यादा की तो उसे रखा बहुत कम है थोड़ा-बहुत ज्यादा है। अब पेटी भरने की अभिलाषा नही रही मात्र पेट भरने तक ही सीमित है। दूसरे की जरूरत को अपने से ज्यादा समझता है इसलिए अनावश्यक संग्रह नहीं करता। देश को एक परिवार समझता है और समझता है कि परिवार मे जैसे दस सदस्य है तो सबको बांटकर खाना चाहिए। अपने हिस्से मे जितना आवे उतने से ही काम चलावे। यहां देश को परिवार समझ कर अपने हिस्से मे ज्यादा की चेष्टा नही करना। जितना परिग्रह का परिमाण किया है उसमे भी कमी करता जाता है और कम से कम मे आने की चेष्टा करता है। जितना परायापन—पर की अपेक्षा घट जाती है उतना समझता है कि मैं स्वाधीनता की तरफ जा रहा हूं जितनी पर की परिग्रह की अपेक्षा रह जाती है उसे पराधीनता मानता है और पूर्ण पराधीनता दूर करने की चेष्टा करता है। रत्नादि को बाधक नही मानता परन्तु पर की अपेक्षा को पराधीन और पर की अपेक्षा के अभाव को स्वाधीनता मानता है। जितना-जितना आत्मनिष्ट होता जाता है पर की फिक्र दूर होती जाती है।

आगे बढता है रोज तीन टाइम बिना नागा के दो घड़ी हर बार आत्मचिंतन करता है। आत्मा को स्पर्श करने की चेष्टा करता है, इसी को अपनी कमाई मानता है। कहने मे चार बार उपवास करके अपनी शक्ति को तोलता है कि पर मे निष्ठा अभी कितनी है। उपवास के रोज का टाइम आत्मचिंतन में बिताता है। हफ्ते मे कार-बार की एक रोज छुट्टी होती है तब व्यक्ति उस रोज सब अपना कार्य करते हैं। यहां पर वह एक रोज शरीर से परिवार मे छुट्टी लेकर अपने चेतन आत्मा के कार्य में

लगता है इससे अपने परिणामों की आसक्ति का पता लगाता है। अब स्त्री का त्याग करके पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण करता है। फिर घर के आराम का भी त्याग कर देता है। सवारी पर चढ़ने की भी अपेक्षा नही रही। कोई भी भोजन के लिए कहता है वही हिंसा से वर्जित भोजन ग्रहण करता है यह भी नहीं कहता मेरे खाने को यह चीज चाहिए। कषाय घटती जाती है दो टाइम की जगह एक टाइम भोजन करने लगता है। व्यापार का त्याग कर देता है अभी व्यापार में अनुमति देता था अब अनुमति देना भी छोड़ देता है। परिग्रह का जो परिमाण किया था उसमें कमी करता जाता है। अभी घर पर रहता था अब मन्दिरादि धर्म के स्थानों में रहता है। अब घर नहीं रहा, घर की चहारदिवारी हट गई वह जो घर की सीमा बनाती थी वह दीवार गिर गयी, अब कोई घर पराया नहीं रहा और न कोई घर अपना रहा। जब किसी घर में अपनापना मानते हैं तब अन्य घर में परायापना आता है परन्तु जब अपना मिट जाता है तो पराया भी मिट जाता है।

एक लंगोटी मात्र परिग्रह रह गया है अब भोजन के लिए बुलाने की भी अपेक्षा न रही कि जो बुलावे वहीं जाय परन्तु भिक्षा के लिए निकलता है अनुकूल स्थिति देखकर भोजन ग्रहण करता है, दिन भर आत्मचिंतन करता है—अर्ध रात्रि में २-४ घण्टे के लिए सोता है। गर्मी सर्दी के लिए कोई [illegible] की जरूरत नहीं रही। परम शान्त अवस्था को प्राप्त होता जाता है। जीवों की रक्षा के लिए मयूरपिच्छि रखता है चार हाथ जमीन देख कर चलता है न जोर से चलता है न धीमें चलता है। टट्टी पिशाब भी जमीन को देख कर करता है किसी जीव की विराधना न हो जाये। अब विरोधी हिंसा का भी अभाव हो गया है चाहे कोई मारो चाहे गाली देवे वहां कोई फर्क नहीं है।

परन्तु अभी तक भी एक लंगोटी मात्र का अव बल है उसकी पराधीनता बाकी है परिणामों मे निर्मलता बढ़ती है। आत्म अनुभव के बल पर राग टूटता है लंगोटी की जरूरत नहीं रहती। किसी को नंगा देखने की जरूरत नहीं रही तो अपनी नग्नता ढकने का सवाल भी नहीं रहा। माता के गर्भ से उत्पन्न हुए निर्विकार बच्चे की तरह जो निर्विकार को प्राप्त हो गया है, उसके पास अब ढंकने को कुछ नहीं रहा। यह परम उत्कृष्ट मुनि अवस्था को प्राप्त होता है।

अब भोजन को भी प्रकृति पर छोड़ दिया। इस शरीर की कोई अपेक्षा रही नही, अगर इसको रहना है तो अपने आप भोजन मिलेगा इसलिए अनेक प्रकार के नियम लेकर भोजन को जाता है। अगर संयोग से वैसी व्यवस्था बनती है तो भोजन लेता है। परिग्रह से कोई सम्पर्क नही रहा। परात्मापन छूट गया, बाहरी परात्मापना तो रहा नहीं। कामवासना रही नही—वह आत्म ऊर्जा जो स्त्री भोग मे लगती थी वह आत्मभोग में लगने लगी—जो बाहर की तरफ पर पदार्थों की तरफ बहती थी वह अन्दर की तरफ बहने लगी। अहिंसामयी क्षमामयी पने को प्राप्त वह आत्मा अब वास्तविक स्वभाविक साधुपने को प्राप्त होता है। यह साधु पर ओढ़ा हुआ नहीं है बाहर से आया हुआ नही—यह बना हुआ साधु नहीं है इसने अपने शरीर को साधु नहीं बनाया। परन्तु यह आत्मा साधुता को प्राप्त हुई है, यह आत्मक्रान्ती है।

बाहर मे धन नही, कपड़ा नही, खाने का नही, गर्मी सर्दी से बचने का नही परन्तु अंतर के वैभव से महान शांति का अनुभव कर रहे है। जहा दुख रहा नही किसका दुख हो किसी चीज मे अपनापना नही अपना समय ध्यान अध्ययन में लगा रहे हैं। बार-बार आत्मस्वरूप की अनुभूति कर रहे हैं। ४८ मिनट के भीतर एक बार जरूरी अपनी आत्मीक वैभव की अनुभूति करते हैं। ध्यान से हटते हैं तो २८ मूलगुणों रूपी लक्ष्मण रेखा के भीतर प्रवृति होती है इसके बाहर जाने पर तो साधु की स्थिति ही नही रहती। बच्चा जैसे हिंडोले में झूलता है कभी ऊपर जाता है कभी नीचे आता है। वैसे यह आत्मिक झूले में हिंड रहा है ध्यान में स्थित होता है तो ऊपर में जाता है ध्यान से हटकर २८ मूल में आता है। अपना मुनिपना अपने मे मानता है २८ मूल गुणों को तो राग मानता है जो वहां पर भी अभी उतना पड़ा हुआ है।

काय वचन मे कोई फर्क नही, धनिक-गरीब का कोई भेद नहीं, शत्रु-मित्र का भेद नही, निंदा और प्रशंसा मे भेद नही, जंगल और शहर में फर्क नहीं। सुख-दुख में, जीवन-मरण में कोई भेद नही रहा न मरण दुख है न जीवन की अभिलाषा है। इस प्रकार आत्मा को आत्मा भाता हुआ शांत अवस्था को प्राप्त होता है। □□

लोक-प्रतिष्ठा और आत्म-प्रशंसा

संस्कृत में एक सुभाषित है—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ।'—भूखा कौन-सा पाप नहीं करता ? अर्थात् उसे किसी भी पाप से परहेज नहीं होता। वह किसी भी कीमत पर अपनी भूख मिटाने की खरीद-फरोख्त करता है। पेट की भूख मिटाना कदाचित् सरल है अपेक्षाकृत प्रतिष्ठा और प्रशंसा की भूख से। आज यह रोग महामारी की भांति फैल रहा है और इससे पीड़ित व्यक्ति चाहे वह गुणों से दूर ही क्यों न हो, हर छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे की अपेक्षा किए बिना, चाहे जो भी कीमत चुकाकर, चाहे जिस किसी अधिकारी या अनधिकारी से प्रतिष्ठा की भूख मिटाने में सन्नद्ध हैं। आज जो पदवियों, मानपत्रों और ऐसे ही ग्रन्थों के आदान-प्रदान की परिपाटी चल पड़ी है उसमें अधिकांश इसी रोग के चिह्न हैं। ये ऐसे लेन-देन के प्रसंग आत्म-अहित के साथ 'तीर्थंकरों की वाणी और धर्म' के प्रति बगावत को ही इंगित करते हैं—वास्तविकता के भाव को नहीं। ध्यान रहे—लोकप्रतिष्ठा और आत्म-प्रशंसा दोनों ही आत्म-हित में नहीं। पाठकों से अपेक्षा है कि वे उक्त सन्दर्भ में स्व० पूज्य बड़े वर्णी जी के सुभाषितों से लाभ लेंगे।

—सम्पादक

लोक-प्रतिष्ठा

१. संसार मे प्रति ठा कोई वस्तु नही, इसकी इच्छा ही मिथ्या है। जो मनुष्य संसार बन्धन को छेदना चाहते हैं वे लोकप्रतिष्ठा को कोई वस्तु ही नही समझते।

२. केवल लोकप्रतिष्ठा के लिए जो कार्य किया जाता है वह अपयश का कारण और परिणाम मे भयङ्कर होता है।

३. संसार मे जो मनुष्य प्रतिष्ठा का लिप्सु होता है वह कदापि आत्मकार्य मे सफल नही होता, क्योंकि जो आत्मा पर-पदार्थों से सम्बन्ध रखता है वह नियम मे आत्मीय उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

४. लोक-प्रतिष्ठा की लिप्सा ने इस आत्मा को इतना मलिन कर रखा है कि वह आत्मगौरव पाने की चेष्टा ही नहीं कर पाता।

५. लोक-प्रतिष्ठा का लोभी आत्मप्रतिष्ठा का अधिकारी नही। लोक में प्रतिष्ठा उसी की होती है जिसने अपनेपन को भुला दिया।

६. लोक-प्रतिष्ठा की इच्छा करना अवनति के पथ पर जाने की चेष्टा है।

७. संसार में वही मनुष्य बडे बन सके जिन्होंने लोक-प्रतिष्ठा की इच्छा न कर जन हित के बडे-से-बडे कार्यों को अपना कर्तव्य समझ कर किया।

आत्म-प्रशंसा

१. जबतक हमारी यह भावना है कि लोग हमें उत्तम कहे और हमें अपनी प्रशसा सुहावे तबतक हमसे मोक्षमार्ग अति दूर है।

२. जो आत्म-प्रशंसा को सुनकर सुखी और निन्दा को सुनकर दुखी होता है उसको ससार सागर बहुत दुस्तर है। जो आत्म-प्रशसा को सुनकर सुखी और निन्दा को सुन कर दुखी नही होता वह आत्मगुण के सन्मुख है। जो आत्म-प्रशसा सुनकर प्रतिवाद कर देता है वह आत्मगुण का पात्र है।

३. जो अपनी प्रशस्ति चाहता है वह मोक्षमार्ग में कण्टक बिछाता है।

४. आत्म-प्रशंसा आत्मा को मान कषाय की उत्पत्ति-भूमि बनाती है।

५. आत्मश्लाघा में प्रसन्न होना ससारी जीवो की चेष्टा है। जो मुमुक्षु हैं वे इन विजातीय भावो से अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं।

६. आत्म-प्रशसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, मत समझो कि तुम उससे उन्नत हो सकोगे। उन्नत होने के लिए आत्म-प्रशसा की आवश्यकता नही, आवश्यकता सद्-गुणो के विकास की है। —'वर्णी वाणी से साभार'

ताकि सनद रहे और काम आए

अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर (उपन्यास) की विसगतियो को लक्ष्य कर 'अनेकान्त' के गतांक में 'विचारणीय-प्रसंग' दिया गया था। प्रबुद्ध पाठकों ने उसका सदुपयोग कर जो अमूल्य-विचार भेजे हैं उनमे से कुछ के कुछ अंश **'सनद'** रूप मे अंकित किये जा रहे है। यद्यपि देश और समाज के वर्तमान वातावरण को देखते हुए आभास होता है कि प्रायः आज युक्ति, आगम और तर्क की अपेक्षा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की बलवत्ता है—फिर भी हम आशावादी हैं। डा० नेमीचन्द्र जी इन्दौर के शब्दों में—'अपनी तरह लिखते रहिए। स्वाधीनवृत्ति के शेर को भला पिंजरे में आज तक कोई डाल पाया है।'

—सम्पादक

१. श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ (सम्पादक वीरवाणी)

—लेख सुन्दर व समयानुरूप है। वीरवाणी मे छापना क्रमशः शुरु कर दिया है। अन्त मे साथ मे सम्पादकीय भी लिखूगा। ५-१-८४

२. प्रो० डा० रमेश चन्द्र डी. लिट्—बिजनौर

—आपने जिस निर्भीकता से अनुत्तरयोगी मे लिखित दिगम्बर सिद्धान्तों से विपरीत मान्यताओ की ओर ध्यान आकर्षित किया है वह स्तुत्य है।"

आपकी पैनी-दृष्टि के प्रति समाज को अवश्य ही आभारी होना चाहिए। ११-१-८४

३. श्री प्रो० गोराबाला खुशालचन्द्र, वाराणसी—

—मैंने अनुत्तर योगी के दर्शन भी नहीं किए हैं। आप मेरे लिए विश्वास भाजन हैं। फलतः और लोगों से सुनी स्फुट विसंगतियों की पुष्टि हुई। और आपके विचारणीय प्रसग के विचारो को उपयुक्त मानता हू। तथा उनका समर्थन करता हू। पुण्यश्लोक मुख्तार सा० तो अनेकान्त के संस्थापक थे।—१३-१-८४

४. श्री पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री, श्री महावीर जी

—यह पत्र आपको अनेकानेक धन्यवाद देने के लिए लिख रहा हूं। मैंने भी कुछ स्थल इसमें बहुत पहले देखे थे—मुझे देखकर दुख हुआ था। मुझमे इतनी क्षमता नहीं थी जो इन पर कुछ लिखता। आपने जो विचारणीय प्रसग लिखकर एक बहुत बड़े साहस का कार्य किया है और दिगम्बर मान्यता का रक्षण किया है—इस विषय में आपका धन्यवाद किये बिना नही रह सकता। १६-१-८४

५. श्री पं० रतनलाल कटारिया, केकड़ी—

'अनुत्तर योगी' पुस्तक के विरोध में जो आपने आवाज उठाई है वह सही कदम है। आजकल सत्य कहने का भी लोगो में साहस नही रहा है। अपने पैरो आप कुल्हाडी मारने का उद्यम तो हमने न जाने किन अविवेक के क्षणो मे कर लिया है। आपने फिर भी समय पर ठीक कदम उठाकर चेताया है तदर्थ धन्यवाद। इसमें सफलता मिले तभी मजा है। २४-१-८४

६. डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

—विचारणीय प्रसग के अन्तर्गत अनुत्तर योगी की आपकी समीक्षा ध्यान से पढी। आपका 'जरा सोचिए' शीर्षक सामयिक स्तभ भी अच्छा और आवश्यक लगा। अनेकान्त के लिए जो श्रम आप करते है और जिस योग्यता से पत्रिका निकाल रहे हैं, श्लाघनीय है। २१-१-८४

७. सेठ राजेन्द्र कुमार जैन, विदिशा

विचारणीय प्रसंग पर आपका अनुत्तरयोगी संबंधी सर्क्युलर प्राप्त हुआ। मैंने अनेक वयोवृद्ध अन्य विद्वानों और त्यागियो से इस विषय पर विचार सुने किन्तु आपने कलम चलाकर साहस और गौरव का कार्य किया है। आपके विचारों में सहमति की नहीं, सिद्धान्त के रक्षण की बात है इसमें सहमति नही, इस पर कुर्बानी आवश्यक है। २४-१-८४

८. डा० बी. डी. जैन, नई दिल्ली

—अनुत्तरयोगी तीर्थंकर महावीर उपन्यास को आपने बहुत ही पैनी दृष्टि से पढ़ा है। उठाए गए प्रसंग वास्तव मे बहुत ही विचारणीय है। निःसदेह आप समाज को नई दिशा प्रदान कर रहे हैं और सिद्धांतो की रक्षा कर रहे हैं। २८-१-८४

९. हेमचन्द नेमचन्द काला, इन्दौर

—आपकी लेखनी की स्पष्टवादिता को साधुवाद।

देते हुए यही लिखना चाहता हूं कि अनुत्तरयोगी के प्रकाशन मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिन-जिनका भी हाथ रहा हो उन सबको सार्वजनिक रूप से ऐसे कृत्यों के लिए क्षमा मागनी चाहिए। अनुत्तर योगी के बारे मे जो कुछ लिखा गया है उसे पढकर ऐसा लगता है कि भ्रम फैलाने वाले तथ्य किस उद्देश्य स दिए जा रहे है और दि० समाज को किस दिशा मे ले जाया जा रहा है ? क्या एक दिन ऐसा आयगा कि दि० समाज का लोप हो जायेगा। ३१-१-८४

१०. सम्पादक, सन्मति संदेश

—अनेकान्त मे आपका लेख विचारणीय प्रसग पढ़कर यह अनुभव हुआ क सिद्धान्त की सुरक्षा के लिए आप जैसे निर्भीक स्पष्टवक्ता विद्वान ही सक्षम हो सकते है। अनुत्तर योगी के सिद्धान्त विरुद्ध प्रकरणो को जैन समाज के समक्ष रखकर भविष्य मे होने वाली अपार क्षति से आपने समाज को सचेत कर महान् उपकार किया है। २-२-८४

११. डा० श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

परम्परागत तथ्यो के सरक्षण को किसी भी कवि या चरित्र लेखक ने दृष्टि से ओझल नही किया है यही आशा वीरेन्द्रकुमार जी तथा दि० जैन समिति से स्वाभाविक रूप से करना कोई अनुचित बात नही है। आशा है वे परम्परा विरुद्ध अंशों का परिष्कार अगले सस्करण मे अवश्य कर देगे। १५-२-८४

१२. डा० प्रेमचन्द्र जैन, जयपुर

अनुत्तरयोगी महावीर की समीक्षा पढ़ी। मै आपके विचारो से पूर्णता सहमत हू। इस विषय पर दि० जैनियो द्वारा इस प्रकार लिखा जाना एक दम असहनीय है। आपका लिखना प्रमाणपुष्ट निर्भीकता और स्पष्टता लिए हुए है। यह दि० विद्वानो के लिए सर्वथा विचारणीय है।

१३. डा० नन्दलाल जैन, रीवा

'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' नामक उपन्यास के अन्त:पठन के आधार पर 'अनेकान्त' मे जो बिन्दु उठाए हैं उन पर सारी दि० जैन समाज एव विद्वानो को ध्यान देना चाहिए। यह कितना अच्छा होता कि प्रकाशन समिति ग्रन्थ को आद्योपान्त पढने के बाद प्रकाशित करती। इससे उत्तरवर्ती समय मे इस उपन्यास के कारण दि० जैन धर्म, महावीर और उनकी मान्यताओ के प्रति भ्रामक धारणाएँ सभवत. स्थिर न हो पाती। आप जैन सिद्धान्तो के प्रति जितनी जागरूकता का परिचय दे रहे है वह श्लाघनीय है वस्तुत 'अनेकान्त' और वीर सेवा मन्दिर इस हेतु ही स्थापित है। २७-२-८४

समाधान-हेतु : शंका

क्या द्रव्य स्त्री के तीर्थंकर प्रकृति का बंध और क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है, वैसे तो शास्त्रों मे स्पष्ट निषेध है किन्तु दो स्थल-विशेष मे शका है जो इस प्रकार है :—

१. हरिषेणकथा कोश कथा नं० १०८ श्लोक १२४-१२६,

अथ सा रुक्मिणी नत्वा सर्वसत्वहित गुरु,
सयमश्री समीपे च प्रवव्राज मनस्विनी ॥

बद्ध्वा तीर्थंकर गोत्र तप शुद्ध विधाय च।
रुक्मिणी स्त्रीत्वमादाय जातो दिवि सुरो महान्
देवश्च्युत्वा भुव प्राप्य तप कृत्वायमुत्तर।
निहत्याशेष कर्माणि मोक्षं यास्यति तीरजा.॥'

२. गोम्मटसार जीवकांड गाथा—७०४ की सस्कृत व कर्णाटकी टीका तथा टोडरमल जी कृत उसकी वचनिका मे प० कैलाशचन्द्र जी के हिन्दी अनुवाद भाग २ पृ. ६३१-६३२ (भा० ज्ञानपीठ) मे इस प्रकार लिखा है—

'क्षायिक सम्यक्त्व तु असयतादि चतुर्गुणस्थानमनुष्याणा असंयतदेश संयतोपचारमहाव्रत मानुषीणा च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टिनामेव केवलिश्रुतकेवलिद्वय श्रीपादोपान्ते सप्त प्रकृतिनिरवशेषक्षय भवति'—इसी को जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ४ के पृष्ठ ३७४ पर उद्धृत किया है। इसमे जो उपचार 'महाव्रत मानुषी' का विशेषण दिया है सो इससे ये द्रव्य स्त्री विदित होती है। द्रव्य से पुरुष हो और भाव स स्त्री हो उसके तो क्षयिक सम्यक्त्व शास्त्रों मे बताया है वह तो सगत है किन्तु ऐसी भाव स्त्री के उपचार महाव्रत कैसे होगा ? उपचार महाव्रत तो द्रव्य स्त्री के ही सभव है। द्रव्य पुरूष के तो वास्तविक महाव्रत ही होगा। भाव स्त्री के जब १४ गुणस्थान हो सकते है तो उसके उपचार महाव्रत तक ही बताना भी असगत प्रतीत होता है। अत. 'असयतदेश सयतोपचार महाव्रत मानुषीणां' पद का क्या समाधान है ? मानुषी (भावस्त्री) के छठा सातवाँ गुणस्थान क्यो नही ? सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र की टीका तथा राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र ७ की टीका मे भी इस विषय का विवेचन है किन्तु 'असयत देश संयतोपचार महाव्रत मानुषीणा पद' वहा भी नही है।

उक्त विषय मे विद्वान् प्रकाश डालने की कृपा करें।

—श्री पं० रतनलाल कटारिया, केकड़ी

मूल-जैन-संस्कृति : अपरिग्रह

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

'आज लोगों में चिंता व्याप्त है कि—यदि हम 'अपरिग्रहवाद' को मूल-जैन-संस्कृति मान बैठे तो हम कहां के रहेंगे ? आज तो हम अहिंसा को मूल संस्कृति बता कर दया, जीव रक्षा और परोपकार के नाम पर थोड़ा बहुत दान देकर दानी धर्मात्मा और अहिंसक जैनी बने हुए हैं और संग्रह के आयामों में भी हमें किसी प्रकार की अड़चनें नहीं आतीं —चाहे जैसे और जितना कमाते और सुख भोग करते हैं और हमें समाज में प्रतिष्ठा भी मिली रहती है, आदि।' यह सारी चिंता परिग्रह की कृशता में संतोष धारण से सहज ही दूर हो जायगी और जैनत्व को बल मिलेगा।' पाठक विचार करें।

—सम्पादक

'संस्कृति' शब्द बड़े गहरे भाव में है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व-आत्मा से है। संस्कार किया हुआ रूप 'संस्कृत' कहलाता है और संस्कृत हुए शुद्धरूप की धारा संस्कृति होती है। विकसित स्व-गुणों की धारा होने से 'संस्कृति' स्थायी होती है। कोष में संस्कार का अर्थ 'शुद्ध किया जाना' लिखा है और संस्कृति संस्कार किए गए—संस्कृत रूप से प्राप्त है अतः 'संस्कृति' का स्थायित्व स्वयंसिद्ध है। इसके विपरीत—'असंस्कृति'—पर अर्थात् अन्यों से प्रभावित बहुरूपियापन से लदी—अस्थायीरूप होती है। क्योंकि बहुरूपियापन उधार लिया हुआ नाशवान रूप होता है—वह स्थायी नहीं होता। उदाहरणार्थ—स्वर्ण का रूप निखरना उसका संस्कृत होना होता है और निखरे हुए इस संस्कृत रूप से पनपने वाली संस्कृति स्वर्ण संस्कृति होती है और खोट मिले सोने की संस्कृति (?) असंस्कृति होती है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए। लोगों ने संस्कृति शब्द को व्यवहार परक रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि अन्य अनेक अर्थों में भी लिया है—सो वह व्यवहार ही है—वास्तविक नहीं।

'जिन' शब्द पारिभाषिक और व्यवहार-परक है और यह (कर्मों को) जीतने वाले शुद्ध आत्माओं को इंगित करता है। 'जिन' का धर्म जैन कहलाता है। इस धारा का ऐसा प्रवाह जो स्वयं शुद्ध हो या शुद्धि में निमित्त हो सके 'जैन संस्कृति' है।

यह कोई नहीं जानता कि जैन संस्कृति कब से चली आ रही है ? तीर्थंकर ऋषभदेव की यह देन है यह कथन भी व्यवहार है। वास्तव में तो तीर्थंकर ऋषभदेव भी तीर्थंकरों की अनादि परम्परा में इस युग की प्रथम कड़ी थे; जिन्होंने इस संस्कृति को पुनः उजागर किया। कोई-कोई लोग तो जैन-संस्कृति को भगवान महावीर की देन मानने के भ्रम में है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि 'जैन-संस्कृति' वह है जो मूल अनुसरणी है—मूल के विपरीत नहीं है। ये संस्कृति जिनसे प्रकाश में आई वे 'जिन' अपरिग्रही—शुद्ध आत्मा का अनादि मूल रूप ही है। हाँ, जैन-संस्कृति की भांति संस्कृति शब्द का व्यवहार मानव आदि अनादिवर्ती अस्तित्वों के साथ भी हो सकता है। जैसे मानव-संस्कृति आदि।

यदि हम जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति, आत्म-संस्कृति आदि कहें तो ठीक बैठ जाता है, क्योंकि ये सदा से है और सदाकाल रहेंगे और इनके अपने रूपों से अपनों में भेद न होगा, जब कि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेद हो जायगा। ध्यान रहे पंथ-संप्रदाय के आधार से पनपने वाली कथित संस्कृति (?) उसके अनुयायियों से अनेकों भेदों में बँट जायगी। जैसे दि० जैन, श्वेताम्बर जैन, तेरहपंथी जैन, बीसपंथी जैन तथा शिया-मुसलमान—सुन्नी-मुसलमान आदि। पर, आत्मा, मानव या 'जिन' में ऐसा नहीं होता—सभी अपने लक्षणों, गुणों से अपने में एक जैसे अखण्ड हैं इनके लक्षणों-गुणों में कभी अन्तर न आयगा। यदि कभी कहीं किसी प्रकार का

अन्तर दिखेगा तो वह मूल की अपेक्षा न होकर पर-प्रभावित—विकारी आधारों से प्रभावित असस्कृत अवस्था का ही रूप होगा।

'सस्कृति' शब्द से मूलस्वभाव की धारा अभिप्रेत है और 'जैन-सस्कृति' जिन अर्थात् आत्मा के शुद्ध एकाकी शुद्ध मूलरूप को इगित करती है। फलत. 'जैन-सस्कृति' मे आत्मा के मूल विकास मे कारणभूत—पर से निवृत्ति यानी परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है। अतरग परिग्रह राग-द्वेष, मोहादिक और बाह्य परिग्रह सासारिक सभी पदार्थों से निवृत्ति, आत्मा के स्व-मूलरूप के प्राप्त करने मे साधन है। अहिंसा आदि सभी आचार-धर्म भी परिग्रह-निवृत्ति मूलक है। अतः मूल जैन-सस्कृति 'अपरिग्रह' है और किंचित भी परिग्रह न रहना आत्मा की शुद्ध 'जिन' दशा है—जिससे यह 'सस्कृति' पनपी और प्रकाश मे आई और जैन-सस्कृति कहलाई।

लोक मे 'अहिंसा परमो धर्मः' 'जियो और जीने दो' आदि जैसे नारे, जो आचार परक है और जिन्हे मूल जैन-सस्कृति से जोडा जा रहा है वे सभी नारे भी अपरिग्रह मूलक ही है अर्थात् वे 'जिन' की स्वभाव परक अपरिग्रह-रूप सस्कृति के फलीभूत कार्य है। ऐसे नारो का सद्भाव जैनो को सिवाय जैनेतरो मे भी है—जैनेतर भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील जैसे पापो की भर्त्सना करते है, भले ही वे जैनियों की भाति इनके सूक्ष्म रूपो पर न पहुचे हो। हाँ, वे अन्त तक अपरिग्रह के पोषक नही। उनके ईश्वर भी परिग्रह के पुजारी और परिग्रह से आवृत रहे हैं जब कि 'जिन'—अर्हन्तों में 'अपरिग्रह' की पूर्णता है।

ऐसा मालूम होता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' आदि नारे 'मारो या मरने दो' जैसे नारो के प्रतिद्वन्द्वी हैं। संभवतः इनका अधिकाशतः प्रचलन, नारद-पर्वत सवाद जैसे अन्य बहुत से प्रसगो का फलीभूत कार्य हो, जब 'अज' का अर्थ बकरा किया जाने लगा हो। या तीर्थंकर महावीर के सम-कालीन हो जब कि धर्म के नाम पर हिंसा का बोलबाला हो चुका हो। अन्यथा भगवान नेमिनाथ से पहिले हिंसा के ऐसे प्रसंग बिरले ही रहे होगे। युग के प्रारम्भ मे भ० ऋषभदेव के समय में ऐसा प्रसग नही था। तब तो राज-दण्ड मे भी हा, मा, और धिक् जैसे दयापरक शब्द दण्ड थे। भरत-बाहुबली का स्वयं व्यक्तिगत युद्ध करना स्वा-भाविक ही प्राणियो पर दया का परिचायक है। उस समय का वातावरण (जीवन मे और आयु के अन्त तक मे भी) परिग्रह-निवृत्ति और संयम धारण के लक्ष्य का था। 'पच समिदो तिगुत्तो पंचेदियसंवुडो जिद कसाओ। दसण-णाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो।

प्र. सा. ३।४०

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जैनों में सदा से वीतरागता प्राप्ति और परिग्रह निवृत्ति को ही प्रमुखता दी जाती रही है। इसीलिए सभी तीर्थंकरों के साथ वीत-रागी जैसे विशेषण को जोडने का प्रचलन रहा है जैसे—वीतराग ऋषभ, वीतराग महावीर आदि। कभी, कहीं किसी तीर्थंकर को (अहिंसक होते हुए भी) अहिंसक जैसे विशेषण से संबोधित करने का प्रचलन नही रहा। जैसे—अहिंसक ऋषभ या अहिंसक महावीर आदि। यतः ये सब धर्म परिग्रह-निवृति पर ही आधारित हैं।

जब हम हिंसादिक के लक्षणो पर दृष्टिपात करते हैं तब वहां भी हमे परिग्रह की ही कारणता दिखती है—'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।' इसमें प्रमत्त (प्रमाद) को परिग्रह ही जानना चाहिए। इसका अर्थ है—प्रमाद के योग से प्राणो का घात हिंसा है। आगे भी प्रमाद की मुख्यता दिखाई देती है। जैसे—

१. यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥
व्युत्थानावस्थाया रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ॥४८॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्माप्रथममात्मानम् ॥४७॥

पुरुषार्थ० ४३-४८

—'निश्चय ही कषाय (प्रमाद) रूप परिणमित हुए मन-वचन-काय से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात करना है वह हिंसा है। योग्य आचरण वाले सन्तपुरुष के रागादिक भावों के अनुप्रवेश के बिना

केवल प्राणपीड़न से हिंसा कदाचित् भी नही होती। रागादिक भावों के वश में प्रवृत्ति रूप—अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो अथवा न मरो, हिंसा अवश्य है। प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है, आत्मा कषायभावो सहित होने से पहिले अपने ही द्वारा आपकों घातता है।' आदि।

जैसे हिंसा में प्रमाद मूल कारण है वैसे अन्य सभी पापों में भी प्रमाद ही मूल है—

'प्रमत्तयोगादिति हेतु निर्देशः।'— त. रा. वा. ७।१३।५

'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गा·········ममेदमिति, हि सति संकल्पे रक्षणादय संजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्य भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुन च कर्मणि प्रतिपतते।'—वही ७।१७।६

सर्व दोष परिग्रहमूलक है। यह मेरा है, ऐसे सकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमे हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूंठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है। फलतः—

यदि ममत्व आदि रूप अंतरग व धन-धान्यादि बहिरंग दोनों परिग्रह न हों तो हिंसा आदि का प्रश्न ही नही उठता। क्योकि कारण के बिना कार्य नही होता—'जेण विणा जं ण होदि चेव त तस्स कारणम।'

—धव. १४।५,६,६३।६०।२

परिग्रह को सर्वपापों की जन्मभूमि भी कहा है—

"क्रोधादिकषायाणामार्तरौद्रयोर्हिंसादिपचपापाना भयस्य च जन्मभूमिः परिग्रहः।'—चा. सा. पृ. १६

'मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहकारसभव.।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते॥
ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः॥'

—तत्वानु० १६, १७

'मिथ्याज्ञानयुक्त मोह से ममकार और अहंकार होते हैं और ममकार व अहंकार से जीव के राग-द्वेष होते है उनसे कषाय-नोकषाय होते हैं' उनसे योग प्रवर्तित होते हैं, उनसे प्राणि-वध आदि होते हैं।'

व्यवहार में भी अहिंसा धर्म को दया, करुणा, अनुकम्पादि द्वारा प्रेरित और मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौचादि पूर्ण धर्मों से संपुष्ट होना अवश्यम्भावी है। वर्तमान में जिसे अहिंसा मानने का प्रचलन चल पडा है उसमें यद्यपि दया-करुणा आदि रूपों की प्रेरणा तो परिलक्षित होती है पर अन्य धर्मों की संपुष्टि मे खामियां रह जाती हैं, फिर चाहे वह श्रावक सम्बन्धी अहिंसा हो या मुनि सम्बन्धी हो। इसमे मुख्य कारण परिग्रह (प्रमाद) का सद्भाव ही है। कहा भी है—

अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परम,
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभय,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः॥'

स्वयंभूस्तोत्र २१।४

प्राणियो की अहिंसा जगत मे परमब्रह्म—अत्युच्चकोटि की आत्मचर्या जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रम विधि मे नही बनती जिस आश्रम विधि में अणुमात्र—थोड़ा सा भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसा-परमब्रह्म की सिद्धि के लिए परम करुणाभाव से सपन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूप से उभय प्रकार के **परिग्रह को छोड़ा है**—बाह्य मे वस्त्रालकारादिक उपाधियों का और अतरंग में रागादि भावो का त्याग किया है·········॥

सूक्ष्म हिंसा भी पर-वस्तु के कारण से (ही) होती है, अतः हिंसा में कारण परिग्रह का त्याग करना चाहिए। कहा भी है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसाऽऽयतननिवृत्ति. परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥'

पुरु० अमृतचन्द्राचार्य ४६

कहा जा सकता है कि यदि जैन-संस्कृति में 'अहिंसा परमोधर्मः' की प्रधानता नही तो आचार्य ने 'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इस सूत्र में हिंसा के वर्जन का प्रथम रूप में उपदेश क्यो दिया? परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जैसे नीची सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर पहुंचा जा सकता है वैसे ही अणुव्रतों का अभ्यास कर, पूर्ण अपरिग्रही दशा को प्राप्त करने के लिए अहिंसा आदि आचारों (महाव्रतों) की श्रेणियों से गुजरना होता है। महाव्रत आदि की श्रेणियों में अपरिग्रह की श्रेणी अन्तिम

और उत्कृष्ट है अहिंसादि पहिली श्रेणियां अन्तिम सीढ़ी आने पर छूट जाती है। जो जीव अहिंसादि आचारों के पूर्ण अभ्यासी होते हैं उन्हें पूर्व के चार महाव्रतों की पूर्णता के बाद भी परिग्रह से मुक्ति के लिए लम्बा और कठिन संघर्ष करना पडता है, तब कही बारहवे गुण स्थान मे उन्हें वीतरागता की प्राप्ति होती है जब कि अहिंसा आदि महाव्रतों की पूर्णता इस गुणस्थान से पहिले सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान में अथवा 'अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्याहिंसेति' के पक्ष में दशवें गुणस्थान में ही हो लेती है। इससे मालूम होता है कि परिग्रह की जडें बड़ी मजबूत हैं और जो महाव्रतो की पूर्णता मे भी नही कटती बाद को भी बहुत कुछ करना पडता हैं। यही कारण है कि—'अपरिग्रहत्व' को बाद में गिनाया, जिसकी पूर्णता का सकल्प दीक्षा के समय किया गया था।

ऐसा मालूम होता है कि गत समय मे भ० महावीर के पश्चात् जैनियों ने शिथिलाचार प्रवृत्तिवश कष्टसाध्य संयम से वचने के लिए 'अपरिग्रह' जैसी कठोर—मूल-सस्कृति को भुलाकर अहिंसा आदि आचारो को मूल सस्कृति से बद्ध कर दिया। यही कारण है कि जहा प्रथमानुयोग के शास्त्रो मे पूर्वकाल मे परिग्रह-त्यागी लाख-लाख और करोड दि० मुनियो के विहार और मोक्ष होने के उल्लेख मिलते है, वहां भगवान महावीर के बाद उस संख्या मे ह्रास होता चला गया। आज स्थिति है कि परिग्रह त्यागी दि० मुनियों की सख्या अगुलियो पर गिनने लायक ही शेष रह गई है। कारण कि आज लोग मूल जैन सस्कृति—अपरिग्रहवाद की उपेक्षा कर परिग्रह जन्य अहिंसादि जैसे आचार को जैन-संस्कृति, मान, दया-करुणा दान आदि द्वारा उन्हें पोषण देने के अभ्यासी बनने की चेष्टा करने लगे है। इसका फल आज यहा तक पहुच गया है कि वे न्याय-अन्याय-जिस किसी भी भाति हो, परिग्रह की बढ़वारी मे जुट पडे है और उनका ध्यान लाखो कमाकर हजारो मात्र दान देने की ओर केन्द्रित होता जा रहा है। इससे उनका विषयाभिलाषा पूरक परिग्रह भी बढ़ता है और उन्हे इन्द्रिय-दमन के कष्ट-सहन से मुक्ति भी मिली रहती है साथ ही वे यश और प्रतिष्ठा भी पाते रहते हैं जो उन्हें इष्ट है। यदि ऐसा न कर वे अपरिग्रह को प्रमुखता दिए रहकर उसकी पुष्टि में प्रयत्न शील रहते तो निःसन्देह जैन का इतना ह्रास न होता।

कई मनीषी ऐसा विचार करते हैं कि आत्म-परिणामों के हिंसक होने से असत्य, चौर्य, मैथुन आदि सभी हिंसा रूप ही है और परिग्रह भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है अथवा प्रमाद भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है। ऐसे मनीषियों से हमारा निवेदन है कि - 'सूक्ष्म जिनोदित तत्वं'—जिनेन्द्र का बतलाया तत्व बडा सूक्ष्म है—और उसे सूक्ष्मता से ही देखना चाहिए। मूलरूप में कारण और कार्य का व्यवहार जैसे पृथक् है वैसे ही सत्ता की दृष्टि से उनका अस्तित्व भी पृथक है और इसी कारण उन्हें कार्य और कारण जैसी दो श्रेणियों में रखा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में जो प्रमाद को हिंसा कहा गया है, वह कारण मे कार्य का उपचार मात्र है। ऐसा प्रयोजन यह इंगित करने के लिए ही किया गया है कि हिंसादि में प्रमाद की सर्वथा मुख्यतः है। यह व्यवहार 'अन्न वै प्राणः' की श्रेणी का ही है, जहाँ जीवन मे अन्न की प्रमुखता दर्शाई गई है 'कारणे कार्योपचारोऽन्न-प्राणवत्'—त.रा. ६।१२०।१९। अन्यथा यदि प्रमाद और हिंसा मे भेद न होता तो आचार्य प्रमाद की गणना हिंसा से पृथक—परिग्रह में न कराते। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि सभी परिग्रह के अन्तर्गत है जिनसे आत्म-अहित रूप हिंसादि पापो की उत्पत्ति होती है। परिग्रह नाम मूर्छा[1] का है और बाह्य तथा आभ्यन्तर उपाधियों के सरक्षण, अर्जन संस्कार आदि व्यापार को मूर्च्छा कहा है—'...उपाधीनां संस्कारादिलक्षणव्यापृतिमूर्च्छा इति।'—त. रा. वा. ७।१७।१ फलतः सभी पाप मूर्च्छाजन्य होते हैं।

अत. जैन संस्कृति मे प्रथमतःमूर्च्छा—परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है।

मूलत. तो परिग्रह की शृखला बड़ी विस्तृत है और प्रकारान्तर से हिंसादि सभी पाप परिग्रह के अन्तर्भूत ही हैं फलतः परिग्रह से छुटकारा पाने में ही श्रेय है। सभी तीर्थंकरों और महापुरुषों ने परिग्रह से निवृत्ति पाने का मार्ग अपनाया—उन्होंने प्रथमतः परिग्रह-परिवार—मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय तथा विकथा, इन्द्रियविषय,

निद्रा आदि सभी अन्तरंग परिग्रहों और बाह्य परिग्रह धन धान्यादि से निवृत्ति पाने का यत्न किया और इसीलिए वे अन्य पापों से बच सके।

परिग्रह-परिवार—

१. **मिथ्यात्व**—तत्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।[१] जब तक तत्वरूप से निर्णीत पदार्थों पर श्रद्धान न होगा तब तक परिग्रह लगा ही रहेगा। और जब पदार्थों के स्वरूप का ठीक २ श्रद्धान होगा तब उन्हें जानकर स्व-प्रवृति और पर से निवृत्ति का भाव होगा और तभी परिग्रह से छुटकारे का प्रयत्न कर सकेगा। स्थूलरीति से मिथ्यात्व पाँच प्रकार के हैं—विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, सांशयिक मिथ्यात्व, और अज्ञान मिथ्यात्व।

(अ) **विपरीत**—ऐसा श्रद्धान करना कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह अज्ञानादिक से ही मुक्ति होती है।[१]

(आ) **एकान्त**—ऐसा श्रद्धान करना कि पदार्थ एक रूप ही है। जैसे किसी पदार्थ को ऐसा मानना कि यह सर्वथा है ही अथवा ऐसा मानना कि सर्वथा नहीं ही है। पदार्थ एक रूप ही है अथवा ऐसा मानना कि अनेक रूप ही है। इसी प्रकार उसको सावयव-निरवयव, नित्य-अनित्य इत्यादिक रूपों में से किसी एक रूप मे सर्वथा मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है।[४] जब कि जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ को अनेकान्तरूप (एक ही समय में—सदाकाल अनेक धर्मों वाला) सिद्ध किया गया है।

(क) **वैनयिक**—सच्चे-झूठे सभी प्रकार के देवो, सभी प्रकार के शास्त्रों और सभी प्रकार के साधुओ मे, उनके खरे-खोटे की पहचान न करके उनकी समानरूप में विनय-सेवा आदि करना वैनयिक मिथ्यात्व है।[५]

(ख) **सांशयिक**—सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने तत्त्वो का जिस रूप में वर्णन किया है या जो तथ्य बतलाए हैं वे सही हैं या नहीं? ऐसा विकल्प बनाए रहना और उनके कथन की सत्यता पर निर्भर न रहकर ढुलमुल श्रद्धान रखना।[६]

(ग) **अज्ञान**—विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, वे नित्याऽनित्य नहीं हैं, संसार व मोक्ष नहीं हैं ऐसी धारणा रखना, पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान न करना, अज्ञान मिथ्यात्व हैं।[७]

२. **कषाय**[८]—जो भाव आत्मा को कर्म-बन्धन मे कसें वे कषाय कहलाते हैं। जीव अपने भावों के अनुरूप ही अपने को तीव्र-मन्द कर्म-बन्धन मे बाँधता है। ये कषाय मूलतः सौलह श्रेणियों मे विभक्त है और विस्तार से इनके २५ व संख्यात-असंख्यात तक भेद है।

(अ) **अनंतानुबंधी**—अनन्त संसार की स्थिति को बधाने वाले क्रोध[९], मान[१०], माया[११], लोभ[१२]। शास्त्रो मे इनको क्रमशः पत्थर की रेखा के समान, पत्थर के समान, बांस की जड़ के समान और कृमि राग के समान (उदाहरणपूर्वक) बतलाया है।

(आ) **अप्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय मे व्रत का अभाव हो। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रो मे इनको क्रमश. पृथ्वी की रेखा, हड्डी, मेढा के सीग और चक्र-मल (ओंगन) समान बतलाया है।

(क) **प्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय मे सकलचारित्र न हो सके ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रों में इनको क्रमश धूलिरेखा, काठ की लकीर, गोमूत्र और शरीरमल के समान कहा है।

(ख) **संज्वलन**—परीषहादि उपस्थित होने पर भी जो चारित्र को नष्ट नही करते ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रो मे इनको क्रमशः जलरेखा, बेंत, खुरपा और हल्दी के रग के समान बतलाया है। इनके सिवाय हास्य, रति (विषयादिक मे उत्सुकता) अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (धर्म और धर्मात्माओ के प्रति ग्लानि) स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद भी पापो की जड है। विकथायें (संयम के विरुद्ध वाक्य) जो स्थूलरीति से स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा रूप में वर्णित हैं वे सब परिग्रह मे गर्भित हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण के विषयों मे उत्सुकता रखना अथवा प्रतिकूल विषयो मे द्वेष करना भी परिग्रह है। और धन-धान्यादि बाह्य सामग्री का संग्रह बाह्य परिग्रह है।

इस प्रकार ऊपर गिनाये परिग्रह रूप कारणों में से किसी के भी उपस्थित होने पर प्राणी पापो में प्रवृत्त होता है। अत. जैन-सस्कृति मे अपरिग्रह की प्रमुखता है। अन्य व्रतों का आधार यही है—ऐसा समझना चाहिए।

एक बात महत्त्व की ओर है। वह यह कि हिंसा, झूठ चोरी और कुशील ये चारो पाप ऐसे हैं जिन्हें करते हुए भी जीवों को गर्व के साथ अहिंसक, सत्यवादी, अचौर और ब्रह्मचारी घोषित करने की छूट है, पर परिग्रह पाप में किंचित् रहते हुए भी वह अपने को अपरिग्रही घोषित नही कर सकता। वहाँ परिमाण शब्द ही जोडना पड़ता है। तथाहि—

१. आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा करते हुए भी श्रावक 'अहिंसाणुव्रती' कहलाता है।
२. किसी पात्र को घोर-दण्ड से बचाने हेतु अतथ्यभाषी श्रावक भी सत्याणुव्रती कहलाता है।
३. एक देश चोरी का त्याग करने वाला अचौर्याणुव्रती कहलाता है।
४. स्त्रीकृत पत्नी मे अब्रह्म-पाप करते हुए को ब्रह्मचर्याणुव्रती (ब्रह्मचारी) कहा जाता है। परन्तु—
५. प्रचुर परिग्रह को छोड़ते हुए भी तिल-तुष मात्र भी रखने वाला श्रावक अपरिग्रहाणुव्रती नही कहला पाता, वह परिग्रह (पाप) परिमाणाणुव्रती ही कहलाता है। ऐसा क्यों ?

वस्तुत: विचारा जाय तो ऐसी सब व्यवस्थायें तत्त्व-दृष्टि (सच्चाई) पर आधारित न होकर समाज की अपनी व्यवस्था-पूर्तियो को ध्यान में रखकर ही बनाई गई हैं। उदाहरणत:—

जैसे 'मैथुनमब्रह्म'—मिथुन (स्त्री पुरुष) के भाव व कर्म को मैथुन कहा गया है; फिर वह चाहे स्वीकृत मे हो या अस्वीकृत मे; सभी जगह मैथुन (अब्रह्म) है। एक पुरुष जिस कन्या को किसी निश्चित पुरुष को देकर उसे शील-वती संबोधन से युक्त करता है क्या वह वस्तुत. 'मैथुनमब्रह्म' की परिधि से बाहर होती है ? कदापि नही। वह तो किसी अपनी व्यावहारिक व्यवस्थाओं के लिए वैसी मान ली जाती है। लोग जानबूझ कर मैथुन के साधन जुटाते हैं और उसे गा-बजाकर 'ब्रह्म' का नाम देते हैं—यह सामाजिक व्यवस्था मात्र है—वास्तविक लाक्षणिक धर्म नही है। पर, जैसे यह सब हो जाता है वैसे परिग्रह के साथ ऐसा घटित नहीं होता। लोग तिल-तुष मात्र परिग्रही (मुनि) को गा-बजा कर या और कैसे भी 'अपरिग्रही' घोषित करने की हिम्मत नही कर पाते। इसमे मूलकारण परिग्रह की बलवत्ता ही है—जिसे क्षीण करने के लिए अरहन्तों ने इसके निवारण का मार्ग प्रशस्त किया और जो मूल-रूप मे 'जैन-सस्कृति' कहलाया। सिद्ध है कि अहिंसादिक धर्म हैं और उनके मूल मे 'अपरिग्रह' रूपी मूल सस्कृति है—जैसे मूल के अभाव मे शाखाओं की सम्भावना नही वैसे ही परिग्रह के अभाव में हिंसादिक शाखाओं की भी सम्भावना नही। फलत: हमे अपरिग्रह को मूल-सस्कृति मानकर चलना चाहिए।

हिंसा के लक्षण मे आचार्यो ने दो अनिवार्यताओं का उल्लेख किया है और वे अनिवार्यतायें हैं—प्रमत्तयोग और प्राण-व्यपरोपण। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि जहां प्रमाद का योग है और प्राणो का व्यपरोपण है वहाँ हिंसा है। आचार्यों ने एक बात यह भी खुलासा की है कि यदि प्रमाद का योग है और दूसरे के प्राणों का वियोग नही भी है तो वहा भी हिंसा है क्योंकि उनके मत मे प्राणों में द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के प्राणो के साथ स्व और पर दोनो के प्राणो का ग्रहण भी निहित है। फलत: जहाँ पर के प्राणो का घात नही होता वहा भी प्रमाद स्व-प्राणों का घात तो करता ही है। उक्त प्रसग पर यदि गहराई से मनन करें तो ऐसा मानने मे कोई हानि नही होनी चाहिए कि—परस्पर में विरोध रूप हिंसा और अहिंसा दोनों का अस्तित्व प्रमाद व प्राणो के अस्तित्व तक, उनके हनन और रक्षण के विकल्पों तक सीमित है—निर्विकल्प अवस्था में नही जबकि वीतरागता—अपरिग्रहत्व आत्मा में सदाकाल रहने वाला उसका स्वभाव है।

प्रवचन सार मे उपयोग के भेदो का वर्णन है और कहा गया है—'अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपराग: अशुद्ध: सोपराग:। स तु विशुद्धि सक्लेश रूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविध: शुभोऽशुभश्च।' 'समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्ते शुभ उपयोग:।'—प्र० व० टी० ६३, ६५।

यदि लोग अपरिग्रही बनने का प्रयत्न करते रहे तो उनमे अहिंसा आदि धर्म स्वय फलित होते रहे औ जैनत्व भी सुरक्षित होता रहे।

जरा सोचिए? मूल जैन-सस्कृति अपरिग्रह है या जैसे-तैसे धनादि सग्रह कर उसमे से किंचित् दान-पुण्य कर अपने को 'अहिंसक' घोपित करना? जैसा कि आज हो रहा है?

२. श्रावक की भूमिका?

'श्रावक' शब्द मे श्रद्धा विवेक और क्रिया की ध्वनि अन्तर्हित है। फलत.—जब किसी को 'श्रावक' नाम से पुकारा जाता है तो बरबस उसके प्रति श्रद्धा से मन-मस्तक नत हो जाते है कि अवश्य ही यह देव-शास्त्र-गुरु और तत्त्वो का श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि, गौतम गणधर के प्रवचन के अनुरूप ज्ञानी और नैष्ठिक या पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं के पालन मे सावधान होगा। इसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के चिह्न परिलक्षित होते हैं।

सरावगी, सरावग और 'क ग च ज त द प यवा प्रायोलुक्' की परिधि मे 'सराक सराग' आदि शब्द श्रावक शब्द के बिगड़े रूप मालुम होते है, जो मध्यकाल में सामने आए। लोग कालदोष मे और सद्गुरुओं के समागम न मिलने से आचार-विचार मे शिथिल होते चले गए और आज स्थिति इतनी बद से बदतर हो गई कि सच्चे श्रावक या जैनी शायद ही अगुलियो पर गिनने योग्य मिल सके।

आगमानुसार श्रावक को मधु, मांस, मद्य और पच उदुम्बरो का त्यागी व निरतिचार पच अणुव्रतो का धारी होना आवश्यक है। उक्त प्रसंग मे यह अनछने जल का सर्वथा त्याग करता है और रात्रि-भोजन या होटल आदि के खान-पान को भी मांस-तुल्य जानकर मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक त्यागता है। यदि इन नियमो के साथ वह प्रतिमा धारी व निर्मोही-वृत्ति हो तो स्वामी समन्तभद्र के शब्दो में उसे 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' की श्रेणी मे ही लिया जायगा। ऐसे श्रावक को हम नतमस्तक हैं।

शास्त्रों में श्रावकों के कुछ और भी दैनिक कर्तव्य बतलाए है जैसे—वीतरागदेव की भक्ति, उपासना, दर्शन व पूजा करना, आगम ग्रन्थो का स्वाध्याय करना, इन्द्रिय-विषयों पर अकुश लगाना, छह काय के जीवो की रक्षा करना, तपो और सामयिक का अभ्यास करना और सुपात्रों को उनकी आवश्यकता के अनुसार चारो प्रकार का दान देना आदि। श्रावक को सप्तव्यसनो का त्यागी तो होना ही चाहिए। साथ ही उसे व्यसनसवियो की सगति व उनके मान-सम्मान करने का त्यागी भी अवश्य होना चाहिए। उक्त सभी प्रसग ऐसे है जिनसे हम अपने श्रावक होने की जाच भी कर सकते है। हम प्रति दिन देखे कि हमने आज अपने कर्तव्यों का किन अशो मे पालन किया है और हमे किस रूप मे आगे बढना है?

बडा दु:ख होता है जब हम कही पढते या सुनते है कि अमुक धर्मात्मा ने कहा--कि क्या करू? बच्चे आदि नही माने, वे जिद पर अड गए इसलिए शादी और खान-पान की व्यवस्था अमुक होटल मे करनी पडी या जब कोई मुखिया स्वय रात्रि-भोजी होकर बयान देता है कि रात्रि मे भोजन उनकी कमजोरी है। अमुक धर्मात्मा ने अमुक सज्जन के सम्मान मे अमुक प्रसिद्ध होटल मे पार्टी दी, आदि जैसे समाचार भी दुखदायी होते है। ये सब बातें श्रावक की गरिमा के सर्वथा प्रतिकूल है। शर्म तो तब अधिक आती है जब अपने को जैन घोपित करने वाले लोग शादियो अथवा अन्य अवसरो पर सामूहिक रात्रि-भोजन या होटल भोजन तक करते कराते और ऐसे अवसरो मे सम्मिलित होते है।

विचारने की बात है कि--हम कहा जा रहे है और हमारी भावी पीढी हमारी इन विपरीत प्रवृत्तियों का अनुकरण कर धर्म-मार्ग से क्यों न हटेगी? वह तो स्पष्ट कहेगी कि हमारे बुजुर्गों ने जो चलन अपनाया उस चलन से हमे क्यों रोका जाता है? इतना ही क्यो साधारण लोग तो आज भी ताना मार रहे है—'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'।'

जरा सोचिए! स्थिति क्या है और उसमे हम कैसे सुधार ला सकते हैं?

—सम्पादक

साहित्य-समीक्षा

१. हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन :

लेखक : डा० पी० सी० जैन

प्रकाशक : देवनगर प्रकाशन, जयपुर।

साइज : १८×२२×१६ पृष्ठ १६+२०६ = २२२।

मूल्य : ६० रुपये।

जैन पुराण, पुण्य पुरुषो के एसे चरित्र हैं जो मोक्ष का मार्ग सरलता से बताते हैं : पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन करना उन सभी स्रोतों का उजागर करना है, जिनसे महापुरुष मोक्ष तक पहुंचते हैं। हरिवंश पुराण में तीर्थंकर नेमिनाथ और तत्कालीन पुरुषो और परिस्थितियों का सर्वांगीण सामूहिक वर्णन है। लेखक ने ने बड़े श्रम से इसे बिलोकर मक्खन और तक्र की भांति इसके विभिन्न जातीय मिश्रित तथ्यों को पृथक्-पृथक् पुंजों में रख दिया है। जिस से पाठक सहज ही अथाह समुद्र मे गोता लगाते ही विभिन्न जातीय विभिन्न रत्नों को एक स्थल पर प्राप्त कर सकें। विद्वान् लेखक ने समस्त पुराण को मूलतत्त्व धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति और चरित्र-चित्रण आदि जैसे ग्यारह अध्यायों में संजोकर कर रखा है। परिशिष्ट में २२ चित्र व्रतों सम्बन्धी भी दिए हैं। इससे लेखक की आन्तरिक भावना पाठकों को सयम-मार्ग पर दृढ़ करने की स्पष्ट झलक देती है। आशा है इससे पाठक पुराण सन्दर्भों को जीवन में उतारने में सहज ही सफल हो सकेंगे और लेखक का श्रम सार्थक होगा। विद्वान् लेखक उत्तम कृति के लिए प्रशंसार्ह हैं। ग्रंथ साज-सज्जा उत्तम और आकर्षक है।

□

२. जैन कला में प्रतीक :

लेखक : श्री पवनकुमार जैन

प्रकाशक : जैनेन्द्र साहित्य सदन, ललितपुर।

साइज : १८×२२×१६ : पृष्ठ ५१ मूल्य : १५ रुपये

प्रतीक का क्षेत्र अति व्यापक है और इसका प्रयोग लोक के सभी पदार्थों के स्वरूप-परिज्ञान के चिह्नों के लिए किया जा सकता है। फलतः—प्रतीक सम्बन्धी लम्बी खोज में हाथ डालना बड़े साहस का कार्य है। किसी उस चिह्न को, जो किसी आकार-प्रकार, भाव आदि का संकेत देता हो 'प्रतीक' नाम दिया जा सकता है। कुछ प्रतीक स्वाभाविक—बिना इच्छा और प्रयत्न के बन जाते हैं और कुछ मानव-बुद्धि द्वारा निर्मित होते हैं। जैसे मानव के चलते समय अज्ञान अवस्था में उसके पंजो से बना निशान पंजों का स्वाभाविक प्रतीक और स्वस्तिक आदि बुद्धिजन्य प्रतीक हैं।

'जैन-कला-प्रतीक' विषयक प्रस्तुत-कृति 'गागर में सागर' तुल्य है। इसमें लेखक ने मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, लोक रचना, समवसरण, मानस्तम्भ, अष्टापद, नन्दीश्वरद्वीप, अष्टमगलद्रव्य और विचार, शब्द, स्वप्न जेसे भावात्मक, तदाकार-अतदाकार प्रतीकों को उद्घाटित किया है। निःसन्देह प्रतीक-शोध में लेखक ने जैन-आगमों में गहरी डुबकी लगाई है। वे तक कहीं प्रतीक रत्नों के रहस्य पाठकों को भेंट कर पाए हैं। जैन-कला के प्रति उनकी आस्था, और उनके प्रतीकों के खोजने की लगनसर्वथा स्पृहणीय है। हमारा विश्वास है कि इस कृति से पाठक लाभान्वित होंगे और शोधकर्त्ताओं को नवीन प्रेरणा मिलेगी।

—सम्पादक

'तृष्णा लोभ बढ़ं न हमारा, तोष-सुधा नित पिया करें।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, उसकी सेवा किया करें॥'

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० २ अप्रैल-जून १९८४

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अध्यात्मपद	१
२.	धन्यकुमार चरित में तीर्थ वन्दना —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	२
३.	बारस अणुवेक्खा —श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	४
४	दुख का बीज—श्री बाबूलाल जैन वक्ता	७
५.	अद्वैत दृष्टि और अनेकान्त —श्री अशोककुमार जैन, बिजनौर	८
६.	जैन कला और स्थापत्य में भ० शान्तिनाथ —कु० मृदुलकुमारी, शोधछात्रा	११
७.	विषमिश्रित लड्डू—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	१७
८.	अनुत्तर-योगी में कुछ विसंगतियां	२०
९.	ताकि सनद रहे और काम आए	२१
१०.	दिगम्बर परम्परा में	२३
११.	कारवां लुटता रहा हम देखते खड़े रहे	२४
१२.	संस्मरणों के आधार पर	२५
१३.	वर्धमान-भक्तामर —श्री मूलचन्द्र जैन शास्त्री श्री महावीर जी	२६
१४.	साहित्य-समीक्षा	३२

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

गुरु-गण के अभिमत

पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज :

सेठ श्री उम्मेदमल जी पाण्ड्या व ब्र० पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री किशनगढ़ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव पर महाराज श्री के साथ कुछ दिन तक रहे। 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है, के बारे में पू० आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज व आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज से पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित लेख पर चर्चा हुई। आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में कहा कि—"तीर्थंकरों का जीवन चरित्र एक यथार्थ है और जो यथार्थ है उस पर कभी उपन्यास नहीं लिखा जा सकता, उपन्यास में कोरी कल्पना ही होती है। श्री पद्मचन्द्र जी शास्त्री ने इस विषय को उठा कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त की रक्षा की है। और मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह उपन्यास की किताबें हमारी ही दिगम्बर जैन संस्था ने छपवाई हैं। इस तरह की किताबों से हमारी परम्पराएं विकृत होती हैं। इस तरह की किताबें छापना उचित नहीं है।"

पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज :

"अनुत्तर-योगी में जो विसंगतियां दिगम्बर धर्म के प्रतिकूल हैं उन्हें छांटकर प्रकाशन करने वाली संस्थाओं को भेजकर उनसे अनुरोध किया जाय कि आप इन विसंगतियों का समाधान करें तथा अनुत्तर योगी के प्रारम्भ में अतिरिक्त पत्रक लगवा कर स्पष्ट करें कि ये मान्यताएँ श्वेताम्बर साहित्य से ली गई हैं। दिगम्बर साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है।"

अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् :

'आपके द्वारा प्रेषित पत्र और 'अनुत्तर-योगी' के दिगम्बराम्नाय के विरुद्ध प्रसंगों का निरूपण प्राप्त हुआ। वस्तुतः यह प्रकाशन समिति की भावुकता का ही परिणाम है। दिगम्बर समिति के द्वारा दिगम्बर-विरुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन हानिकारक होगा। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् इस प्रकाशन को हानिकारक मानती है। अच्छा हो पुस्तक के प्रारम्भ में अलग स्पष्टीकरण करने वाला पत्रक लगा दिया जाय कि अमुक-अमुक प्रसंग श्वेताम्बर साहित्य से लिए गये हैं—दिगम्बर साहित्य में इन प्रसंगों का उल्लेख नहीं है। आपका पत्र यहां कैलाशचन्द्र जी तथा फूलचन्द्र जी आदि को पढ़वा दिया है।'

संरक्षक—भारतवर्षीय दि० जैन शास्त्रि-परिषद् :

आपके पत्र पर विचार किया गया। 'अनुत्तर-योगी' ग्रन्थ दिगम्बर जैन समाज में नया विकार ही पैदा नहीं करेगा, दिगम्बरत्व का ही लोप कर देगा। शास्त्रि-परिषद् का प्रत्येक विद्वान् 'अनुत्तर-योगी' ग्रन्थ को दिगम्बर मान्यता के विरोध में मानता हुआ उसके पठन-पाठन का विरोध करता है और आपके इस संघर्ष में शास्त्रि-परिषद् का पूरा-पूरा सहयोग रहेगा।"

एक पत्र के अंश :

'अनेकान्त' बराबर देख रहा हूं। सन्तुष्ट हूं। आप अपनी जगह बिल्कुल ठीक हैं। कशा न हो तो घोड़ा ठीक-से कैसे चल पावेगा? आप जैसे दो-चार स्वतंत्र चिन्तक हों तो ही समाज की गाड़ी ठीक-ठीक चल सकती है। मुझे आपमें जो चीज बिजली/चुम्बक की तरह आकर पकड़ती है, वह है आपका स्वाभिमान। मैं इसी का कायल हूं।"

ओम् अर्हम्

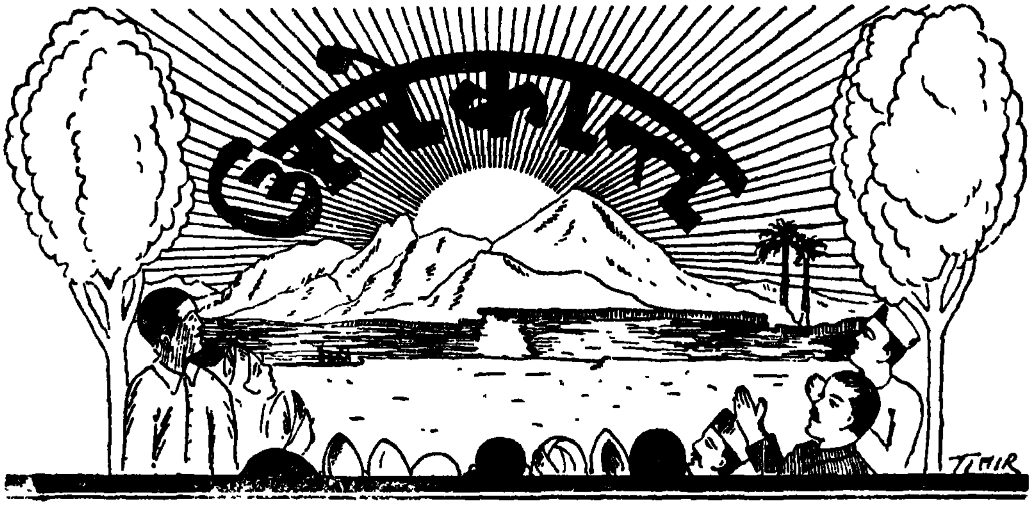

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वष ३७ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अप्रैल-जून १९८४

वीर-निर्वाण सवत् २५१०, वि० स० २०४०

अध्यात्म-पद

चित चिन्तके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ।। चित० ।।
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघनी शमूं ।। चित० ।।
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्व सौं छमूं ।। चित० ।।
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलकें त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ।। चित० ।।
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ।। चित० ।।

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं सम्पूर्ण विभावों का वमन करूंगा और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूंगा। पुन्य-पाप को छोड़कर आत्म में लीन होऊगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूंगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूंगा और समस्त जीवो से क्षमा-भाव धारण करूंगा। मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोड़ूगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊंगा। मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूं। □□

धन्यकुमारचरित में तीर्थवन्दना

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन

वर्तमान मे जिन तीर्थक्षेत्रो से समाज परिचित है, जिनकी समाज मे मान्यता है, और जिनकी वन्दनार्थ देश के विभिन्न भागों से तीर्थयात्री जब-तब आते-जाते रहते हैं, उनमें से अधिकतर ऐसे हैं कि जिनका विकास प्रायः गत दो सौ वर्षों के भीतर ही हुआ है। कई अतिशय क्षेत्र तो इसी अवधि में उदय मे आये और पुराने क्षेत्रो के विद्यमान निर्माणो, मन्दिरो, धर्मायतनो, स्मारको, धर्मशालाओ आदि मे से अधिकाश इसी बीच बने हैं। कई ऐसे भी स्थल हैं जहां प्राचीन मन्दिरो, मूर्तियों, अन्य धार्मिक कलाकृतियो के जीर्ण-शीर्ण भग्नावशेष प्रचुरमात्रा मे प्राप्त हुए हैं, उनमे से जिनकी ओर समाज की दृष्टि आ सकी, अनेको का जो विकास हुआ या हो रहा है वह वर्तमान शताब्दी की ही बात है।

तीर्थविशेषो में प्राप्त एव सरक्षित पुरातात्विक सामग्री से, विशेषकर उक्त पुरावशेषों मे उपलब्ध प्रतिमा लेखों, यन्त्रलेखों, शिलालेखो आदि से उक्त स्थलो के महत्व तथा तीर्थक्षेत्र के रूप में उनकी मान्यता की प्राचीनता का बहुत कुछ अनुमान हो जाता है। जहां ऐसी सामग्री का अभाव है, अथवा वह अति विरल है वहा बडी कठिनाई होती है। ऐसी सूरत में किसी स्थान की तीर्थरूप में मान्यता की ऐतिहासिक प्राचीनता कितनी है, यह जानने के लिए साहित्यगत उल्लेख हमारे सहायक होते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र प्रभृति कतिपय आगमो मे विशेषकर कालान्तर मे रचित आगमसूत्रों की टीकाओं आदि में तथा कथा एवं प्रबन्धग्रन्थों में तीर्थों के अनेक फुटकर उल्लेख मिलते हैं। जिनप्रभसूरि का कल्पदीप अपरनाम विविध-तीर्थ-कल्प (१८३३-३४ ई०) ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें ततः मान्यता प्राप्त अधिकांश तीर्थों के विस्तृत वर्णन हैं, जो विद्वान्‌ लेखक ने जैसा देखा या सुना उसके आधार पर लिखे गए प्रतीत हैं। परवर्ती शताब्दियो मे अनेक श्वेताम्बर साधुओं ने स्वय तीर्थयात्रा करके अपनी-अपनी तीर्थयात्राएं लिखीं। त्रिविध-तीर्थ-कल्प और उक्त तीर्थ मालाओं के कई सकलन प्रकाशित हो गए हैं। यह प्रश्न उठा था कि क्या दिगम्बर परम्परा में भी इस प्रकार का तीर्थ विषयक साहित्य है? अस्तु। १८६५ ई० मे जैन सस्कृति-सरक्षक-सघ सोलापुर जीवराज-ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक १७ के रूप मे डा० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा सुसम्पादित 'तीर्थ-वन्दन-सग्रह' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसने उक्त आक्षेप का सफलतापूर्वक निरसन कर दिया। इस पुस्तक मे ४० दिगम्बर लेखको की काल-क्रमानुसार सूची तथा उनके साहित्य मे प्राप्त तीर्थविषयक उल्लेखो के उद्धरण और उनकी व्याख्या दी है। इस सूची मे १०वी शती के अन्त पर्यन्त के केवल ८ साहित्यकार सम्मिलित किए गए हैं, शेष ३२ लेखक १२वी शती से १९वी शती पर्यन्त के हैं। डा० जोहरापुरकर जी ने पर्याप्त परिश्रम एव शोध-खोज पूर्वक यह सकलन तैयार किया है, तथापि इसमे कतिपय त्रुटियां रह गई प्रतीत होती हैं, यथा स्वामि समन्तभद्र और आचार्य यतिवृषभ को पांचवी शती ई० मे हुआ सूचित करना, जब कि वे दोनो आचार्य दूसरी शती ई० मे हुए हैं। इसके अतिरिक्त, यह सूची तथा उद्धरण भी सर्वथा पूर्ण नही प्रतीत होते— १०वीं शती तक के ८ उल्लेखित साहित्यकारो के अलावा विमलार्य का प्राकृत पउमचरिउ, स्वयंभू की अपभ्रश रामायण एव अरिट्ठनेमिचरिउ, विद्यानद का श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र, उग्रादित्य का कल्याणकारक, असग के महावीरचरित एव शान्तिनाथचरित, आदिपप की कन्नड रामायण, पुष्पदन्त का अपभ्रश महापुराण, चामुण्डराय का कन्नड महापुराण, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू, नेमिचन्द्र सि० च० के गोम्मटसारादि प्रभृति कितने ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें विभिन्न कल्याणक-क्षेत्रों, तपोभूमियों व अतिशय क्षेत्रों

आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। दसवीं शती ई० के उपरान्त की भी खोज करने पर ऐसी अन्य अनेक रचनाओं के प्राप्त होने की पर्याप्त सम्भावना है, जिनमे तीर्थों के विषय में सामग्री प्राप्त हो सकती है।

ऐसी एक रचना गुणभद्रकृत धन्यकुमारचरित है। संस्कृत पद्य में रचित इस ग्रन्थ के लेखक माथुर सघी माणिक्यसेन के प्रशिष्य और नेमिसेन के शिष्य भदन्त गुणभद्र थे, जिन्होंने उसे चन्देल नरेश परमार्द्दिन (चन्देल परमाल] के शासनकाल (११६५-१२०३ ई०) मे विलासपुर (उ० प्र० के झाँसी जिले मे झांसी नगर से २५ कि० मी० उत्तर-पूर्व में स्थित पचार या पछार ग्राम के) जिनालय मे लम्बकचुक (लमेचू) वशी साहू शुभचन्द्र के पुत्र वल्हण की प्रेरणा से लिखा था। ग्रन्थ का रचनाकाल ११६५-११६६ ई० के बीच अनुमानित है। यह चरित्र धन्ना-शालिभद्र के सुप्रसिद्ध कथानक का सर्वप्राचीन उपलब्ध दिगम्बर संस्करण है।

इस त्ररित्र के ३ रे परिच्छेद के श्लो० ५६ में भगवान पुष्पदन्त की जन्मनगरी काकदी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

नित्योद्योगेन गच्छन् स गङ्गाकूल निवासिनीम्।
काकंदी नगरी प्राप ककन्देन विनिर्मिताम्॥

—चतुर्थ चरण का पाठान्तर है 'धनयक्षेण निर्मितां पुष्पदन्तजन्मकारे।'

—इस प्रकार (घर छोड कर भाग जाने के बाद) निरन्तर चलता हुआ वह (धन्यकुमार) गङ्गा तट पर बसी तथा ककन्दन राजा द्वारा बसाई गई काकन्दी नगरी मे पहुंचा। आगे कथन है कि थके हुए धनकुमार ने काकन्दी नगरी के उपवन में एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया, सरोवर में स्नान किया, जल पिया और फल खाये तदनन्तर मार्ग की थकावट को दूर कर जब वह पुन. वन में विहार करने लगा तो उसने तीन ज्ञानरूपी नेत्रो से युक्त एक मुनिराज को देखा उसने उन्हें सन्मुख खड़े होकर हाथ जोडकर नम्रीभूत सिर से प्रणाम करके भक्ति पूर्वक अपने भाइयों के द्वेष का कारण पूछा॥६२॥

षष्ठ परिच्छेद के श्लो० ८५-८८ में धन्यकुमार का पिता वृद्ध पिता पुत्र से पुन: मिलाप होने पर उसे बताता है कि किसप्रकार वह उसको खोज में भटका है और मार्ग में उसने किन तीर्थों के दर्शन किए हैं—

तववार्ता न जानामि किंजीवसि मृतोऽथवा।
निर्जगम् गृहात्तेन समुद्विग्नो वियोगत॥
वन्दितुगतवान्नाथ शान्ति-कुन्थुमरं तथा।
हस्तिनाख्यपुर सार चक्रिचक्रपराजितम्॥
ततोयोध्या-पुरी प्रापनन्तु सत्तीर्थ पंचकम्।
वाराणस्या समायातो नमस्कर्तुं जिनद्वयम्॥
पुनतथान्तरान्नत्वा सप्राप्याह कुशस्थलम्।
मुनिसंघनत देव प्रणन्तु मुनिसुव्रत॥
शीलभद्रस्य या माता तामुद्दिश्य समागमम्॥

(धनकुमार का पिता कहता है कि मैंने तुझे रात दिन देखा पर तू कही मिला नही)— जब मुझे तेरा हाल मालूम नही हुआ कि तू जीवित है या मर गया तो मैं तेरे वियोग से दुखी होकर घर से निकल पडा। मैं शान्ति, कुंथु एव अरनाथ की वन्दना करने के लिए उस अतिशय श्रेष्ठ हस्तिनापुर गया जो किसी समय चक्रवर्ती—तीर्थंकरत्रय के चक्ररत्न से सुशोभित रहा था। तदनन्तर आप उचित, अभिनदन, सुमति और अनन्तवाथ इन पांच तीर्थंकरों की वन्दना करने के लिए अयोध्यापुरी पहुचा, और फिर सुपार्श्व, एवं पार्श्व, इन दो तीर्थंकरो को नमस्कार करने वाराणसी आया। फिर बीच के अन्य तीर्थों की (किन-किन की ?) वन्दना करता हुआ मुनियो के समूह से नमस्कृत भगवान मुनिसुव्रतनाथ की वन्दना करने के लिए कुशलस्था (राजगृह) आया हूं। इसके सिवाय यहा मेरी बहिन, जो तेरी बुआ और शालिभद्र की मा है, रहती है—उससे मिलने के उद्देश्य से भी यहा आया हूं।

सप्तम् परिच्छेद के श्लो०३२-३५ में वर्णन है कि मुनिदीक्षा लेने के उपरान्त—

इति ध्यायन्नसौ साधु धर्म्यध्यान चतुर्विधम्।
अन्येषा दर्शयन् धर्म्यध्यानमार्ग गणाग्रणी:॥
विजहार धरा धीरो ग्रामखेटपुराकराम्।
वन्दमानो हि तीर्थानि तीर्थंकर जिनेशिनाम्॥
विहरन्नवाप श्रावस्ती पुरी सुरै: प्रपूजिताम।
वन्दितु संभवनाथ सभवस्य विनाशनम्॥

(शेष पृष्ठ ६ पर)

'बारसअणुवेक्खा'—एक अध्ययन

□ श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिंसिपल

"भावना भवनासिनी" शास्त्रों की यह उक्ति यथार्थ में विशुद्ध मन से भाई गई भावना इस भव और पर भव से मुक्त करा देती है तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है। संसार का हर प्राणी सांसारिक दुखों से छूट कर परम सुख की चाह में भटक रहा है—अर्थात् संसार मे मुक्ति प्राप्त कर अनन्त सुख के लिए लालायित है अतः प्रतिक्षण निरन्तर विशुद्ध परिणामो का होना नितान्त अनिवार्य है। जहां यह बात अन्य धर्मों में भी कही गई है वहा जैन धर्म में सोलह कारण भावना तथा बारह भावना के रूप में प्रत्येक गृहस्थ और मुनि को इनका निरन्तर चिन्तवन अनिवार्य बताया गया है। इसीलिए ही तो सोलह कारण भावनाओं के निरन्तर विशुद्ध मन से चिन्तवन के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी तरह बारह भावनाएं भी मोक्ष प्राप्ति का विशुद्ध साधन है। भावना को संस्कृत में अनुप्रेक्षा और प्राकृत में 'अणुवेक्ख' शब्दों का प्रयोग होता है।

उमास्वामी ने अनुप्रेक्षा की परिभाषा "तत्त्वानु चिन्तनमनुप्रेक्षा···"अर्थात् बारम्बार सम्यक् तत्व का निरन्तर चिन्तवन ही अनुप्रेक्षा है। ये अनुप्रेक्षाएं बारह होती हैं इनका आध्यात्मिक दृष्टि से जैन धर्म मे इतना अधिक महत्व है कि अनेकों आचार्यों एवं कवियों ने अनित्य अशरण, संसारादि बारह नामों से बारह भावनाओं की रचनाएं की हैं तथा उनका विस्तृत निरूपण भी किया है! समीक्षात्मक रूप से सबसे प्राचीन बारह भावना आचार्य कुन्दकुन्द की "बारस अणुवेक्ख" के नाम से प्राकृत भाषा में उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत लेखक का लक्ष्य इसी "बारस अणुवेक्ख" नामक ग्रन्थ की समीक्षात्मक प्रस्तुति मात्र ही है। यह ग्रन्थ मैसूर विश्वविद्यालय (मानस गगोत्रो) के जैनॉलजिकल एवं प्राकृत विभाग के रीडर एवं विभागाध्यक्ष श्री एम० डी० वसन्त राजन ने प्राचीन कन्नड भाषा की ताडपत्रीय पांडुलिपि के आधार पर सम्पादित कर आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं की शृंखला में एक कड़ी और जोड़ दी है। जिसकी विस्तृत समीक्षा निम्न प्रकार है। कुन्दकुन्द के पचास-साठ वर्ष बाद ही उमास्वामी ने भी सूत्र रूप में "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्याश्रवसंवरनिर्जरा लोक-बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा" इत्य दि लिख कर द्वितीय बारह भावना प्रस्तुत की थी। उमास्वामी के बाद तो बारह भावनाओं की बाढ़ सी आ गई है, संस्कृत में, अपभ्रंश मे और हिन्दी में अनेकों कवियों ने बारह भावनाओं की रचनाएं की है।

संस्कृत मे शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव मे हेमचन्द्राचार्य ने त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित में वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि मे, पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि (गद्य) में, अपभ्रंश में वीर कवि ने 'जंबूस्वामिचरिऊ' में हिन्दी में भूधरदास जी ने दौलतराम जी ने छहढाला में, मंगतराय की बारह भावना जगमोहन ने 'धर्मरत्नोद्योत' मे, तथा सकलकीर्ति आदि अनेकों विचारको, कवियो एवं विद्वानों ने बारह अनुप्रेक्षाओ की रचनाए मौलिक रूप से छायानुवाद में प्रायः पद्यो में ही रची हैं। इनके अतिरिक्त और भी अन्य ग्रंथो मे प्रसगानुसार बारह भावनाओं का वर्णन मिलता है। भक्तगण इन बारह भावनाओं का प्रतिदिन भक्तिभाव से चिन्तवन मनन एव पाठ करते हैं। पं० पन्नालाल जी सा० चा० ने भी लिखी है जो अभी अप्रकाशित है।

साहित्यिक दृष्टि से श्री वसन्तराजन ने जो 'बारस अणुवेक्ख' का सम्पादन किया है वह सम्पूर्ण जैन वांङ्मय के साथ-साथ प्राकृत और कन्नड भाषा को एक अनूठी निधि प्रदान की है जिसके लिए वे विशेष बधाई के पात्र हैं।

उपयुक्त ग्रन्थ में मूल गाथा प्राकृत देवनागरी में है

तथा टीका प्राचीन कन्नड भाषा एवं उसी लिपि में मुद्रित है। चूंकि मैं कन्नड भाषा नहीं जानता अतः टीका के विषय में कुछ भी लिखना अनधिकार चेष्टा होगी। वैसे टीका भी सम्पादक महोदय ने नहीं की है उन्होने तो पूरी ताडपत्रीय प्रति का सम्पादन संशोधन मात्र ही किया है क्योंकि वे कन्नड के ज्ञाता हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३२ पृष्ठ तो प्रस्तावना के और ४२ पृष्ठ मूल प्राकृत गाथा और प्राचीन कन्नड टीका के हैं तथा अनुक्रमणिका के २ पृष्ठ हैं इस तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पृष्ठों का है। इस ग्रन्थ मे कुल प्राकृत गाथाएं ६० तथा दो गाथाए अमुचि और निर्जरा भावना में अतिरिक्त दी है अतः कुल ६२ गाथाए हो जाती है सम्पादक महोदय ने ग्रंथ का सम्पादन करते हुए भूमिका प्रस्तावना एव कृतज्ञता ज्ञापन आदि मूल रूप से कन्नड मे लिखा है पर उसका हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है जिससे कन्नड न जानने वालों को बडा लाभ हो जाता है। इसी हिन्दी अनुवाद के आधार पर ही मैं यह समीक्षा लिखने की धृष्टता कर रहा हू विज्ञ पाठक जन अशुद्धियो को क्षमा करेंगे।

सम्पादक महोदय को मूल पाडुलिपि श्री इन्द्रकुमार जी से प्राप्त हुई थी। जो श्री संक्करे मंडिब्रह्मप्पा के सुपुत्र हैं। प्रस्तुत कृति ताडपत्र पर अंकित है। जिसके प्रत्येक पत्र की लम्बाई चौड़ाई ३½"×२" इंच है प्रत्येक पत्र पर ८-८ पंक्तिया हैं और प्रत्येक पक्ति में १४-१५ अक्षर हैं। चूकि प्रति खडित है अतः खडित स्थानों की पूर्ति जीवराज ग्रंथमाला से प्रकाशित "कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह" नामक ग्रंथ से की गई है। प्रस्तुत कृति की गाथाएं यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द की है पर इनकी कन्नड टीका किसने की यह सर्वथा अज्ञान है। और इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। इस प्रति के बीच के पत्र भी गायब हैं पर अन्तिम पत्र सख्या ५३ है शायद एक दो पत्र और होंगे इस तरह मूल कन्नड पांडुलिपि ५५ पृष्ठों की ही मानना चाहिए। सारी प्रति प्राचीन कन्नड भाषा में अंकित है जिसे श्री शुभचन्द्र जी ने आधुनिक कन्नड में परिवर्तित कर शुद्ध परिष्कृत रूप प्रदान किया और वर्तमान रूप में प्रकाशित है।

आचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं पर तथा प्राचीन कन्नड टीका पर कुछ टीका-टिप्पणी करना सूरज को दीपक दिखाना जैसा लज्जास्पद होगा पर एक बात इस ग्रंथ में मुझे जो विशेष रूप से खटकी वह भावनाओं के क्रम विपर्यय के बारे में है। यद्यपि बारह भावनाओं का क्रम जो आजकल प्रचलित है वही उमास्वामी के भी समय में प्रचलित था पर उनसे ५०-६० वर्ष पहले इतना क्रम-विपर्यय कैसे हो गया इसमें या तो लिपिकार की भूल हो सकती है या फिर आचार्य कुन्दकुन्द को ही यही क्रम अभीष्ट रहा होगा। पर आश्चर्य की बात यह है कि कुन्दकुन्द के ५०-६० वर्ष बाद ही उमास्वामी का क्रम कैसे बदल गया यह एक बडी गम्भीर समस्या है जिस पर विद्वज्जन गम्भीरतापूर्वक मनन-चिन्तन करें और समस्या का समाधान ढूढें।

प्राचीन क्रम		प्रचलित क्रम
१ अध्रुव	७	१ अनित्य
२ अशरण	६	२ अशरण
३ एकत्व	८	३ संसार
४ अन्यत्व	३	४ एकत्व
५ संसार	१४	५ अन्यत्व
६ लोक	५	६ अशुचि
७ असुचि	५+१=६	७ आश्रव
८ आश्रव	१४	८ संवर
९ संवर	५	९ निर्जरा
१० निर्जरा	१+१=२	१० लोक
११ धर्म	१५	११ बोधि दुर्लभ
१२ बोधिदुर्लभ	४	१२ धर्म

उपसंहार इससे अलग है जो सभी ने प्रायः लिखा है।

इस तरह विज्ञ पाठक कुन्दकुन्द और उमास्वामी की बारह भावनाओं का क्रम विपर्यय और उनका आगे-पीछे होने की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर प्रकाश डालें साथ ही सम्पादक महोदय भी अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित करावे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री मांगीलाल जी भंडारी का पूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है जिसे उन्होंने अपने

प्रिय श्री लालचंद जी भंडारी की पुण्य स्मृति में प्रदान किया है। श्री लालचन्द जी मूल निवासी राजस्थान के थे पर आजीविका हेतु बैंगलूर में आ बसे थे १४-४-७४ को उनका आकस्मिक निधन हो गया था। अतः उन्हीं की पुण्य स्मृति में यह बहुमूल्य उपयोगी ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके लिए श्री मांगीलाल जी धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रंथ में श्री लालचंद्र जी का चित्र भी संलग्न है। प्रति की छपाई शुद्ध, साफ और सुन्दर है। कागज भी उत्तम लगाया है। यदि यह ग्रन्थ सजिल्द होता तो अच्छा रहता और टिकाऊ भी हो जाता। इसकी कीमत १२/-रु० रखी है जो कुछ अधिक लगती है।

इन शब्दों के साथ श्री वसन्त राजन् जी का आभारी हूं जो उन्होंने मुझे अपने ग्रंथ के बारे मे लिखने का शुभ अवसर प्रदान किया। धन्यवाद !

श्रुत कुटीर, ६५ कुन्ती मार्ग, विश्वासनगर,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

(पृष्ठ ३ का शेषांश)

दृष्ट्वाजिनालयं दिव्यं भक्त्या तुष्टाव संयमी।
मनोभवान्तकं देवं सभव भवनाशनम्।

—इस प्रकार चतुर्विध धर्म्यध्यान का चिन्तवन करते हुए तथा दूसरों को धर्म्यध्यान का मार्ग दिखाते हुए, ग्राम, खेट, पुर, आकर आदि में वह मुनिसंघ के प्रधान धीर-वीर मुनिराज तीर्थंकर जिनेन्द्रों के तीर्थों की वन्दना करते हुए विहार कर रहे थे विहार करते-करते वे भवविनाशक भगवान संभवनाथ की वंदना हेतु देवो द्वारा पूजित श्रावस्ती नगरी पहुंचें। वहां उन्होंने दिव्य जिनालय में कामविजेता एवं भवविनाशक संभवनाथ भगवान की भावभीनी स्तुति की।' आगे के पद्धतिका छंद के पद्यों मे वह भक्तिपूर्ण संभवाष्टक दिया है। कुछ ही समय उपरान्त इसी श्रावस्ती के वन मे समाधिपूर्वक देहत्याग करके मुनिराज धन्यकुमार सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

सन्दर्भ के लिए देखें—प० पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित—अनुदित तथा १९७२ ई० में श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी, से प्रकाशित धन्यकुमारचरित, प्रस्तावना, तथाशोधांक—८ एव शोधांक १७ में और जैनाएरिक्वेरी, भा० अ० मे प्रकाशित हमारे लेख।

तीर्थों का उपरोक्त वर्णन कथानक के पात्रों द्वारा उनकी यात्रा एव वन्दना करने के मिस कराया गया है। ग्रंथकार गुणभद्र माथुरसंघी भट्टारक थे और उत्तर भारत में ही विचरते थे ? अतएव सभावना यही है कि उन्होंने स्वय अकेले अथवा श्रावकों सहित उक्त छः तीर्थो की यात्रा एवं वन्दना की थी। यह भी स्पष्ट है कि १२वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में ये तीर्थ क्षेत्र अच्छी अवस्था में थे, वहां भव्य जिनालय भी विद्यमान थे, और मुनि, त्यागी एव गृहस्थ श्रावक उनकी वन्दनार्थ यात्रा करते थे।

ज्योतिनिकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-१९

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

अपने कारण से दुखी है अगर परकारण से दुखी होता, कर्म के कारण से दुखी होता तब तो उनके सुखी करने पर ही सुखी हो सकता था परन्तु तू अपने कारण से दुखी है और तू अपने पुरुषार्थ से सुखी हो सकता है।

तेरा पुरुषार्थ कर्म के फल मे नहीं है वह तो भ्रम से माना हुआ है तेरा पुरुषार्थ तो अपने को पहचान कर अपने को अपने रूप देखना है अपने को अपने रूप जानना और अपने में ही रमण करना है। ज्ञानमात्र इतना ही तेरा पुरुषार्थ है। यही तू कर सकता है इसके विपरीत पर को अपने रूप देखना, पर को अपने रूप जानना और पर में रमण करना यह तेरा कुपुरुषार्थ है जो तू कर रहा है। संसार में कोई चीज बन्ध का कारण नही है, कोई चीज दुःख का कारण नहीं है मात्र तेरी अज्ञानता—वह जो अपने को अपने रूप न जान कर पर रूप जानना है यही कर्म बन्ध का कारण है यही—दुख का कारण है यही संसार का बीज है यह तेरे छोड़ने से ही मिटेगी यह अपने को नहीं जानने से हुई है और यह अन्य किसी उपाय से, किसी को पूजने से, किसी का जाप करने से नहीं मिट सकती यह तो अपने को जानने से ही मिटेगी।

सन्मति विहार, नई दिल्ली

दुःख का बीज

□ श्री बाबूलाल वक्ता—कलकत्ता वाले

कर्म अपना कार्य करता है ज्ञान अपना कार्य करता है। कर्म के फलरूप शरीर की प्राप्ति होती है चाहे स्वरूप हो चाहे अस्वरूप चाहे सुन्दर हो चाहे कुरूप। उसी कर्म के फलस्वरूप बाहरी वातावरण प्राप्त होता है कोई मान करता है कोई अपमान करता है बाहर गरीबी-अमीरी मिलती है शरीर के अलावा अन्य चीजों का सयोग होता है। उसी कर्म के फलस्वरूप किसी वस्तु को हितकारी मान कर राग करता है। किसी से द्वेष करता है किसी से क्रोध करता है कही मान करता है आदि। कर्म के उदय से यह सब कार्य होते हैं। रागद्वेष जीव करता है उससे कर्म का बन्ध होता है और कर्म उदय मे आता है उससे रागद्वेष होता है। सवाल होता है कि इससे छुटकारा कैसे हो।

यह सब कर्म के फलरूप होता है परन्तु इनमे अपनापना कौन मानता है इसका कारण भी वह जीव है जो अपने आपको—अपने स्वरूप को न जान कर इनमे अपनापना मानता है यह कर्म के फल मे अपनापना मानना ही वास्तव मे रागद्वेष का कारण है यही चोर की मा है।

शरीर भी नये कर्म निर्माण का कारण नही परन्तु शरीर मे अपनापना मानना ही कर्म निर्माण या नये शरीर को प्राप्त करने का कारण होता है। शरीर चाहे अच्छा हो चाहे बुरा वह तो यह कहता नही कि तू मरे को अपना मान। यह अज्ञानी आप ही अपने को न जान कर इसमे अपनापना मानता है और ससार का बीज उत्पन्न करता है। पुण्य-पाप का उदय तो यह कहता नही तू मुझे अपना मान यह अज्ञानी आप ही अपने को न जान कर इनके फल में अपनापना मान कर दुखी-सुखी होता है और नये कर्म का निर्माण करता है। ये रागद्वेष, क्रोधादि जो कर्म के फलस्वरूप हो रहे हैं ये तो कहते नहीं कि तू हमारे में अपनापन मान परन्तु यह अज्ञानी अपने को न पहचान कर अपने को इन रूप देखता है और नये संस्कार पैदा करता है। यह सब कार्य कर्म के फलरूप हो रहे हैं परन्तु अगर यह इन रूपो में अपनपना न माने तो दुखी भी न हो और नये कर्म का निर्माण भी न हो। और यह तभी सम्भव है जब यह अपने आपमे अपनापना माने अपने को अपने रूप मे देखे। तब जितना कर्म इकट्ठा है वह तो अपना फल देकर चला जाता है और इनमे अपनापना न मानने से नये कर्म का बन्ध होता नही अत एक रोज यह आत्मा कर्मरहित हो जाता है जब कर्म नही रहता तो उसके फलस्वरूप शरीरादि का भी अभाव हो जाता है मात्र वह ज्ञात आत्मा पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए न तो शरीर बध का कारण है न मन वचन काय की क्रिया बध का कारण है न स्त्री पुत्रादि धन परिगृह बध का कारण है बध का कारण तो अपने आपको भूल कर इनमे, पर मे अपनापना मानना ही बध का कारण है अपने को पर रूप देखना कर्म के फल रूप देखना ही बन्ध का कारण है। यही दुख का कारण है।

पर को अपने रूप देखना या अपने को अपने रूप देखना इनमे एक तेरी गलती है और एक तेरी ज्ञानता है। कोई दुखी करने वाला नही— न भगवान कुछ कर सकता है न कर्म कुछ कर सकता है तू अपनी अज्ञानता से इनको अपने रूप देख कर आप ही अपने ससार का अपने दुख का निर्माण करने वाला है तू ही अपने को जान कर अपने को अपने रूप देखे पर को पर रूप देखे तो अपने आपको सुखी बनाने वाला है।

तू अपने को जानना चाहे तो जान सकता है इतनी योग्यता तेरे में है पर को जानने के लिए इन्द्रियों की प्रकाशादि भी दरकार है परन्तु अपने आपको जानने के लिए तो मात्र अपनी ही दरकार है। यह मौका मिला है तू चाहे तो अपने आपको जान कर परम पद को प्राप्त हो सकता है तू पर में अपनापना मान कर ८४ लाख योनी में भ्रमण कर सकता है कोई बचाने वाला नहीं है अगर पर में अपनापना मानेगा तो उसमें आसक्ति भी होगी अहमभाव भी होगा कर्म का निर्माण भी होगा। यदि तेरे हाथ में है। समूचा कार्य तो कर्म के हाथ में हैं परन्तु उस कार्य में अपनापना नही मानना यह तेरे हाथ में है। तू

(शेष पृष्ठ ६ पर)

अद्वैतदृष्टि और अनेकान्त

☐ अशोककुमार जैन एम. ए.

पूर्वपक्ष—वेदान्त आत्मा को एक और अद्वैत ही मानता है, अद्वैत का अर्थ है संसार मे दूसरी कुछ वस्तु नही। भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है और जैनदर्शन के अतिरिक्त यही एक दर्शन ऐसा है जिसने एकमात्र आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे खोज की है। अन्य दर्शनो ने केवल भौतिक जगत की छानबीन की है और आत्मा को अन्य द्रव्यों की तरह एक चेतन द्रव्य मानकर छोड़ दिया है उसके सम्बन्ध मे आगे उन्होंने कुछ नही कहा। जहाँ तक परमात्मा का सम्बन्ध है उसका सम्पूर्ण विश्लेषण उसके जगन्निर्माण को आधार बनाकर ही किया है। वह स्वय अपने आप मे क्या है और उसका क्या रूप है इस विषय मे अन्य दर्शन मौन है।[1] वेदान्ती जगत मे केवज एक ब्रह्म को ही सत् मानते है।[2] वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तन शील है। वह सत् रूप है। यह अस्तित्व ही उस महासत्ता का सबसे प्रबल साधक प्रमाण है। चेतन और अचेतन जितने भी भेद हैं, वे सब इस ब्रह्म के प्रतिभासमान हैं। उनकी सत्ता प्रातिभासिक या व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जैसे एक अगाध समुद्र वायु के वेग से अनेक प्रकार की बीची, तरग, फेन, बुद्बुद् आदि रूपो में प्रतिभासित होता है। यह तो दृष्टि सृष्टि है। अविद्या के कारण अपनी पृथक सत्ता अनुभव करने वाला प्राणी अविद्या में ही बैठकर अपने सस्कार और वासनाओ के अनुसार जगत् को अनेक प्रकार के भेद और प्रपंच के रूप मे देखता है। एक ही पदार्थ अनेक प्राणियों को अपनी-अपनी दूषित वासना के अनुसार विभिन्न रूपो मे दिखाई देता है। अविद्या के हट जाने पर सत्, चित्त और आनंद रूप ब्रह्म में लय हो जाने पर समस्त प्रपचों से रहित निर्विकल्प ब्रह्म स्थिति प्राप्त होती है। जिस[3]प्रकार विशुद्ध आकाश को तिमिररोगी अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र रेखाओ से खचित और चित्रित देखता है उसी तरह अविद्या या माया के कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार के देश, काल और आकार के भेदो से भिन्न की तरह चित्र-विचित्र प्रतिभासित होता है। जो भी जगत में था और होगा वह सब ब्रह्म ही है।

यही ब्रह्म समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में उसी तरह कारण होता है जिस[4] प्रकार मकड़ी अपने जाल के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए और वट वृक्ष अपने प्ररोहों के लिए कारण होता है। जितना भी भेद है वही सब अतात्विक और झूठा है।

यद्यपि आत्मश्रवण मनन, और ध्यानादि भी भेद रूप होने के कारण अविद्यात्मक है फिर भी उनसे विद्या की प्राप्ति संभव हैं जैसे धूलि से गदले पानी में कतकफल या फिटकरी या चूर्ण जो कि स्वय भी धूलिरूप हो है, डालने पर एक धूलि दूसरी धूलि को शान्त कर देती है और स्वय भी शान्त होकर जल को स्वच्छ अवस्था मे पहुंचा देती है। अथवा जैसे एक विष दूसरे विष को नाशकर निरोग अवस्था को प्राप्त करा देता है उसी तरह आत्मश्रवण मनन आदि रूप अविद्या भी रागद्वेष मोह आदि मूलअविद्या को नष्टकर स्वगत भेद के शान्त होने पर निर्विकल्प स्वरूपावस्था प्राप्त हो जाती है। अतात्विक अनादिकालीन अविद्या के उच्छेद के लिए ही मुमुक्षुओं का प्रयत्न होता है। यही अविद्या तत्वज्ञान का प्रागभाव है अत: अनादि होने पर भी उसकी निवृत्ति उसी तरह हो जाती है जिस प्रकार कि घटादि कार्यों की उत्पत्ति होने पर उनके प्रागभावो की।

इस ब्रह्म का ग्राहक सन्मात्रग्राही निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। वह मूक बच्चो के ज्ञान की तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्द सम्पर्क से शून्य निर्विकल्प होता है।

'अविद्या ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विचार भी अप्रस्तुत है क्यों कि ये विचार वस्तुस्पर्शी होते हैं और अविद्या है अवस्तु। किसी भी विचार को सहन नही करना ही[5] अविद्यात्व है।

उत्तरपक्ष :—कर्मद्वैत, फलद्वैत तथा विद्याद्वय का अद्वैत दृष्टि में न होना—अद्वैत एकान्त मे शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य और पाप इहलोक और परलोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष इनमे से एक भी द्वैत सिद्ध नही होता है।[6]

लोक में दो प्रकार के कर्म देखे जाते हैं—शुभ कर्म और अशुभकर्म। हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि

अशुभ कर्म हैं। हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, परोपकार करना, दान देना आदि शुभ कर्म हैं। दो प्रकार के कर्मों का फल भी दो प्रकार का मिलता है—अच्छा और बुरा। जो शुभ कर्म करता है उसे अच्छा फल मिलता है—इसे पुण्य कहते हैं और जो अशुभ कर्म करता है उसको बुरा फल मिलता है—इसे पाप कहते हैं। अद्वैत-मात्र तत्व के सद्भाव में दो कर्मों का अस्तित्व कैसे हो सकता है। जब कर्म ही नहीं हैं तो उसका फल भी नहीं हो सकता है। अत: दो कर्मों के अभाव में दो प्रकार के फल का अभाव स्वतः हो जाता है। दो प्रकार के लोक को भी प्राय: सब मानते है इह लोक तो सबको प्रत्यक्ष ही है इस लोक के अतिरिक्त एक परलोक भी है, जहाँ से यह जीव इस लोक में आता है और मृत्यु के बाद पुनः वहाँ चला जाता है। परलोक का अर्थ है जन्म के पहले ओर मृत्यु के बाद का लोक। ऐसा भी माना गया है कि इस जन्म मे किये गये कर्मों का फल अगले जन्म मे मिलता है किन्तु अद्वैतवाद में न कर्म है, न कर्मफल है और न परलोक है।

यह कहना ठीक नही है कि कर्मद्वैत, फलद्वैत-लोकद्वैत आदि की कल्पना अविद्या के निमित्त से होती है क्योंकि विद्या और अविद्या का सद्भाव भी अद्वैतवाद में नही हो सकता है। यहाँ तक कि बन्ध और मोक्ष की भी व्यवस्था अद्वैत में नही बन सकती है। यदि कोई व्यक्ति प्रमाण-विरुद्ध किसी तत्व की कल्पना करता है तो किसी न किसी फल की अपेक्षा से ही करता है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता है अत: कोई बुद्धिमान व्यक्ति सुख-दुख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि से रहित अद्वैतवाद का आश्रय कैसे ले सकता है अत: ब्रह्म-द्वैत की सत्ता स्वबुद्धिकल्पित है।[*] हरिभद्रसूरि कहते हैं कि अविद्या उस सत्ताशील पदार्थ से भिन्न नही जब कि वह सत्ताशील पदार्थ एकमात्र स्वयं ही है और ऐसी दशा में जगत में विभिन्न रूपों का प्रतीतिगोचर होना एक अकारण बात सिद्ध होती है। यहाँ आशय यह है कि जब सभी वस्तुयें केवल सत्‌रूप हैं तब अविद्या भी केवल सत्-रूप ही हुई है और ऐसी दशा में यह कहना कि एक सत् अविद्यावश अनेक सा लगने लगता है। ऐसा कहा जा सकता है कि अविद्या एकमात्र सत्ताशील पदार्थ से अभिन्न होते हुए भी जगत में विभिन्न रूपों के प्रतीतिगोचर होने का कारण बनती है लेकिन इस पर हरिभद्र कहते हैं कि यह बात प्रमाण द्वारा सिद्ध किये हुए बिना समझ में आने वाली नही। और यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता नही तो यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रहा कि जगत में कोई एक ही पदार्थ सत्ताशील है। दूसरी ओर यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता नही तो उक्त सिद्धान्त प्रमाण हीन ठहरता है। सत्ता अद्वैतका सिद्धान्त इस आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है कि प्रस्तुत वादी के शास्त्र ग्रंथ स्वयं ही विद्या, अविद्या आदि के बीच भेद की बात करते हैं तथा वे स्वयं ही अपने प्रतिपादित सिद्धान्त के सम्बन्ध में संशय आदि की संभावना स्वीकार करते हैं (जब कि संशय आदि ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है। इस पूरी वस्तु स्थिति पर विचार किया जाना चाहिए। कुछ दूसरे वादियो की व्याख्या है कि शास्त्रों मे सत्ता अद्वैत के सिद्धान्त का उपदेश इसलिए दिया गया है कि श्रोताओ के मन मे सब प्राणियो के प्रति समता की भावना उत्पन्न न हो कि इसलिए कि सचमुच ही जगत मे कोई एकमात्र पदार्थ ही सत्ताशील है। उक्तवादियों का ऐसा कहना भी युक्ति विरुद्ध नहीं क्योकि उनका कथन स्वीकार करने पर उत्तम शास्त्र ग्रंथो की प्रामाणिकता सिद्ध बनी रहती है। हरिभद्र का आशय यह है कि अद्वैत-वाद का सिद्धान्त तात्विक रूप से (अर्थात् शाब्दिक रूप से) स्वीकार करने पर प्रस्तुत तीनों बातें असम्भव बनी रहती हैं अन्यथा तो संसार और मोक्ष वस्तुतः एक ठहरेंगे और इस दशा में हम न चाहते हुए भी यह मानने के लिए बाध्य होंगे कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किया गया सब क्रिया-कलाप एक व्यर्थ का क्रियाकलाप है।[८]

अद्वैतवादी ने जो कहा था कि "अविद्या ब्रह्म से भिन्न कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है इसलिए वह नष्ट होती है इत्यादि" सो यह कथन भी असार है क्योंकि अविद्या यदि अवस्तुरूप असत् है तो उसे प्रयत्नपूर्वक क्यों हठानी पड़ती है? अवस्तुरूप खरगोश, शृंग आदि क्या प्रयत्नपूर्वक हटाये जाते देखे जाते हैं?

शंका—अविद्या वास्तविक होगी तो उसे कैसे समाप्त किया जा सकेगा?

समाधान—यह कथन ऐसी शका ठीक नही है—घटादि सत् होकर भी समाप्त किए जाते हैं कि नहीं ? वैसे ही अविद्या सत होवे तो भी हठायी जा सकती है, आप ऐसा भी नहीं कहना। घट, ग्राम, बगीचादि अविद्या से निर्मित हैं। अतः असत् हैं और इसी कारण से उन्हे भी हटा सकते है तो ऐसे तो अन्यो-न्याश्रय दोष आता है अतः घटादिकों में अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो तो उनमे असत्व सिद्ध हो और असत्व शिद्ध हो तो उनमे अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो। "अभेद विद्या निर्मित है अतः वह वास्तविक है" इस पक्ष मे भी वही अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् पहले विद्या परमार्थभूत है यह बात सिद्ध हो तब अभेद विद्या के द्वारा पैदा यह कथन सिद्ध हो और अभेद विद्यानिर्मित है यह कथन सिद्ध होने पर विद्या में परमार्थतः सिद्ध हो इस तरह अभेद विद्यानिर्मित है यह बात सिद्ध नही होती है। अनादि अविद्या क नाश होने मे जो अद्वैतवादियों ने प्रागभाव का दृष्टान्त दिया है सो गलत है क्योंकि वस्तु से भिन्न सर्वथा अनादि तुच्छभाव रूप इस प्रागभाव की असिद्धि है तथा वादियो ने जो ऐसा कहा है कि "तत्वज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या है सो केवल कथन मात्र है यदि अविद्या को प्रागभावरूप मानें तो उससे भेद ज्ञान लक्षण कार्य की उत्पत्ति नही होगी क्योंकि प्रागभाव मे कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नही है। प्रागभाव से नाश हुये बिना जैसे घटरूप कार्य नही होता वैसे ही अविद्यारूप प्रागभाव का नाश हुये बिना तत्वज्ञान रूप कार्य उत्पन्न ही नही होता है।'

यदि एक ही ब्रह्म का जगत मे मूलभूत अस्तित्व हो और अनन्त जीवात्मा कल्पित भेद के कारण ही प्रतिभासित होते हैं तो परस्पर विरुद्ध सदाचार, दुराचार आदि क्रियाओं से होने वाला पुण्य-पाप का बन्ध और उनके फल सुख-दुःख आदि नही बन सकेंगे। जिस प्रकार एक शरीर में सिर से पैर तक सुख और दुःख की अनुभूति अ.वश्यक होती है भले ही फोड़ा पैर में ही हुआ हो, या पेड़ा मुख में ही खाया गया हो उसी तरह समस्त प्राणियों में यदि मूल-एक ब्रह्म का ही सद्भाव है तो अखण्डभाव से सबको एक जैसी सुख-दुःख की अनुभूति होनी चाहिए थी। एक अनिर्वचनीय अविद्या या माया का सहारा लेकर इन जलते हुए प्रश्नों को नहीं सुलझाया जा सकता।"

क्या हेतु के बिना अद्वैत की सिद्धि हो सकती है ?

हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि करने पर हेतु और साध्य के सद्भाव मे द्वैत की सिद्धि का प्रसंग आता है और यदि हेतु के बिना अद्वैत की सिद्धि की जाती है तो वचन-मात्र से द्वैत की सिद्धि भी क्यो नहीं होगी।"

अद्वैतवादियो का कहना है कि हेतु के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि करने पर भी द्वैत की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि हेतु और साध्य में तादात्म्य सम्बन्ध है वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियो का उक्त कथन ठीक नही है। हेतु और साध्य में कथचिद् तादात्म्य मानना तो ठीक है किन्तु सर्वथा तादात्म्य मानना ठीक नही है। सर्वथा तादात्म्य मानने पर उनमे साध्य-साधन भाव हो ही नही सकता है। इसी प्रकार आगम से भी ब्रह्म की सिद्धि करने पर आगम को ब्रह्म से अभिन्न नही माना जा सकता है। यदि ब्रह्म साधक आगम ब्रह्म से अभिन्न है तो अभिन्न आगम से ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः हेतु और ब्रह्म का द्वैत तथा आगम और ब्रह्म का द्वैत होने से अद्वैत की सिद्धि सम्भव नही है।

स्वयसवेदन से भी पुरुषाद्वैत की सिद्धि सम्भव नही है स्वसवेदन से पुरुषाद्वैत की सिद्धि करने पर पूर्वोक्त दूषण से मुक्ति नही मिल सकती है। ब्रह्म साध्य है और स्वसवेदन साधक है। यहाँ साध्य-साधक के भेद से द्वैत की सिद्धि का प्रसग बना ही रहता है और साधन के बिना अद्वैत की सिद्धि करने पर द्वैत की सिद्धि भी उसी प्रकार क्यो नही होगी। कहने मात्र से अभीष्ट तत्व की सिद्धि भी हो जायगी। बृहदारण्यक वार्तिक में ब्रह्म के विषय मे कहा गया है कि यद्यपि एक सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है किन्तु मोह के कारण आत्मा या ब्रह्म भी दो रूपों से प्रतीति होती है आगम द्वैत का बाधक एवं अद्वैत का साधक है।

उक्त कथन भी तर्कसंगत नहीं है। यदि मोह के कारण द्वैत की प्रतीति होती है तो मोह का सद्भाव वास्तविक है या अवास्तविक। यदि मोह अवास्तविक है तो वह द्वैत की प्रतीति का कारण कैसे हो सकता है और मोह के वास्तविक होने पर द्वैत की सिद्धि अनिवार्य है।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि में उभयतः दूषण आता है। हेतु और आगम से ब्रह्म की सिद्धि करने पर द्वैत की सिद्धि होती है। और वचनमात्र से अद्वैत की सिद्धि मानने पर द्वैत की सिद्धि भी वचनमात्र होने से कौन-सी बाधा है।"

अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है—द्वैत के बिना अद्वैत नहीं हो सकता है, जैसे कि हेतु के बिना अहेतु नहीं होता है कहीं भी प्रतिषेध्य के बिना संज्ञी का निषेध नहीं देखा गया है।[४]

जो लोग केवल अद्वैत का सद्भाव मानते हैं उनको द्वैत का सद्भाव मानना भी आवश्यक है। क्योंकि अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है। अद्वैत शब्द भी द्वैत शब्दपूर्वक बना है। 'न द्वैतं इति अद्वैतं' जो द्वैत नही है वह अद्वैत है। जब तक यह ज्ञात न हो कि द्वैत क्या है तब तक अद्वैत का ज्ञान होना असम्भव है अतः अद्वैत को जानने के पहले द्वैत का ज्ञान होना आवश्यक है। द्वैत के बिना अद्वैत हो ही नही सकता है जेसे अहेतु के बिना हेतु नही होता है। साध्य का जो साधक होता है वह हेतु कहलाता है किसी साध्य मे एक पदार्थ हेतु होता है और दूसरा अहेतु। वह्नि के सिद्ध करने में धूम हेतु होता है और जल को सिद्ध करने में धूम अहेतु होता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि अहेतु का सद्भाव हेतु का अविनाभावी है। बिना हेतु के अहेतु नही हो सकता। अतः अद्वैत द्वैत का उसी प्रकार अविनाभावी है जिस प्रकार की अहेतु हेतु का अविनाभावी है।

जो लोग द्वैत का निषेध करते हैं उन्हे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी सज्ञी (नाम वाले) का निषेध निषेध्य वस्तु के अभाव मे सम्भव नही है। गगन कुसुम या खरविषाण का जो निषेध किया जाता है वह भी कुसुम और विषाण का सद्भाव न होता तो गगन कुसुम और खरविषाण का निषेध नही किया जा सकता था। इसलिए जो लोग द्वैत का निषेध करते हैं उन्हें द्वैत का सद्भाव मानना ही पड़ेगा।

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि परप्रसिद्ध द्वैत का प्रतिषेध करके अद्वैत की सिद्धि करने मे कोई दूषण नही है। स्व और पर के विभाग से भी द्वैत की सिद्धि का प्रसग नही आ सकता है क्योंकि स्व और पर की कल्पना अविद्याकृत है। अविद्या भी कोई वास्तविक पदार्थ नही है किन्तु अवस्तुभूत है उसमें किसी प्रमाण का व्यापार नहीं होता वह प्रमाणगोचर है। अविद्यावान मनुष्य भी अविद्या का निरूपण नही कर सकता है जैसे कि जन्म से तैमिरिक मनुष्य चन्द्रद्वय की भ्रान्ति को नही बतला सकता है। इस अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा स्व पर आदि के भेद की प्रतीति होती है। यथार्थ में तो अद्वैत तत्व ब्रह्म का ही सद्भाव पाया जाता है।

वेदान्तवादियों के उक्त कथन मे कुछ भी सार नहीं है। सर्वथा अनिर्वचनीय तथा प्रमाणगोचर अविद्या को मान कर उसके द्वारा द्वैत की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता है। ऐसी बात नही है कि प्रमाण अविद्या को विषय न कर सकता हो। विद्या की तरह अविद्या भी वस्तु है तथा प्रमाण का विषय है। अविद्या प्रमाणगोचर और अनिर्वचनीय नही हो सकती है। अतः अविद्या के द्वारा द्वैत की कल्पना मानना ठीक नही है उनके द्वारा तो द्वैत की सिद्धि ही होती है।

इस प्रकार अद्वैतैकान्त पक्ष की सिद्धि किसी प्रमाण से नही होती है प्रत्युत युक्ति से यही सिद्ध होता है कि अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है और बिना द्वैत का सद्भाव किमी भी प्रकार नही हो सकता है।[५]

कार्य की भ्रान्ति से कारण की भ्रान्ति का प्रसंग—आचार्य समन्तभद्र[६] ने लिखा है कि कार्य के भ्रान्त होने से कारण भी भ्रान्त होंगे। क्योकि कार्य के द्वारा कारण का ज्ञान किया जाता है तथा कार्य और कारण दोनो के अभाव में उनमें रहने वाले गुण जाति आदि का भी अभाव हो जायेगा।

ऐसा सम्भव नहीं है कि कार्य मिथ्या हो और कारण सत्य हो। यदि कार्य मिथ्या है तो कारण भी मिथ्या अवश्य होगा। जो लोग ऐसा मानते हैं तो उनके मत में पृथ्वी आदि भूतों के कारण परमाणु भी मिथ्या ही होंगे। परमाणु प्रत्यक्ष सिद्ध तो है नही। किन्तु कार्य के द्वारा कारण का अनुमान करके परमाणुओं की सिद्धि की जाती है। 'परमाणु रहित घटाद्यन्यथानुपपत्तेः।' परमाणु है अन्यथा घटादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अनुमान से परमाणुओं की सिद्धि की जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा तो स्थूलाकार स्कन्ध की ही प्रतीति होती है और परमाणुओं की प्रतीति कभी भी नही होती है। परमाणुओं का ज्ञान दो प्रकार से ही सम्भव है—प्रत्यक्ष द्वारा या अनुमान द्वारा। प्रत्यक्ष में तो उनका ज्ञान होता नही है कार्य के भ्रान्त होने से कार्य के द्वारा उनका अनुमान भी नहीं

किया जा सकता। ऐसी स्थिति में परमाणुओं के जानने का कोई उपाय ही शेष नही रह जाता है। प्रत्युत कार्य के भ्रान्त होने से परमाणुओं में भ्रान्तता ही सिद्ध होती है। कार्य और कारण दोनों के भ्रान्त होने से दोनों का अभाव स्वत, प्राप्त है और दोनों का अभाव होने से उनमें रहने वाले गुण, सामान्य, क्रिया आदि का भी अभाव हो जायेगा। गुण आदि या तो कार्य में रहेंगे या कारण में। किन्तु दोनों के अभाव में आधार के बिना गुण आदि कैसे रह सकते हैं। गगनकुसुम के अभाव में उसमें सुगन्धित नही रह सकती है। अत: यदि गुण, जाति आदि का सद्भाव अभीष्ट है तो कार्यत्व को अभ्रान्त मानना भी आवश्यक है और स्कन्धरूप कार्य द्रव्य अभ्रान्त तभी हो सकता है जब परमाणु अपने पूर्व रूप को छोड़कर स्कन्धरूप पर्याय को धारण करें इस प्रकार परमाणुओं में अनन्तैकान्त मानना ठीक नहीं है।[7]

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अन्तर केवल इतना ही है कि पहली परम्परायें प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मान कर भी उन सबमें तात्विक रूप से समानता स्वीकार करके हिंसा का उद्बोधन करती हैं, जबकि अद्वैत परम्परा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मान कर उनमें तात्विकरूप से पूर्ण अभेद मान कर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गति वाले जीवों में दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखण्ड ब्रह्म है जबकि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्वरूप से स्वतन्त्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखण्ड एक ब्रह्म मे से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओं के अनुसान जुदे-जुदे स्वतन्त्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता मे से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमश: विकसित हुआ जान पड़ता है। परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।[8]

संदर्भ-सूची

१. डॉ० लालबहादुर शास्त्री : 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' पृ० १८५ ।]

२. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—छान्दो० ३।१४।१

३. 'यथा विशुद्धयाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः,
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया,
मनुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥
बृहदा० भा० वा० ३।५।४३-४४

४. 'यथा पयो पयोऽन्तां जरयति स्वयं च जीर्यति: यथा विषं बिषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति यथा कतक-रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्यते स्वयमपि विद्यमान मनाविलं पाथ: कमोति, एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यप-गच्छतीति' ।
—ब्रह्म सू० शां भा० भा० पृ० ३२

५. अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् ।
मानाधात्मसहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥
—सम्बन्ध वा० का० १८१ ॥

६. कर्म द्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यातां बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥
समन्तभद्र: आप्तमीमांसा का० ०५

७. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा तत्वदीपिका पृ० १७८ ।

८. अत्राप्येवं वदन्त्यन्ये अविद्यां न सतः पृथक् ।
तच्च तन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः ॥
संवाथाभेदरूपाऽपि भेदाभासनिबन्धनम् ।
प्रमाणमन्तरेणैतदवगन्तुं न शक्यते ॥
भावेऽपि च प्रमाणस्य प्रमेय व्यतिरेकतः ।
ननुनाद्वैत मेवेति तदभावेऽप्रमाणकम् ॥
विद्याऽविद्यादिभेदाच्च स्वतन्त्रेणैव बाध्यते ।
तत्संशयादियोगाच्च प्रतीत्या च विचिन्त्यताम् ॥
अन्ये व्याख्या नमन्त्येव समभावप्रसिद्धये ।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्वतः ॥
न चैतत् बाध्यते युक्तया सच्छास्त्रादि व्यवस्थितेः ।
ससारमोक्षभावाच्च तदर्थं यत्नसिद्धितः ॥
अन्यथा तत्वतोऽद्वैते हन्त: संसार मोक्षयोः ।
सर्वानुष्णानवैयर्थ्यमनिष्टं सम्प्रसज्यते ॥
—शास्त्रवार्ता समुच्चय ५४६-५५२

(शेष पृष्ठ १३ पर)

जैन कला तथा स्थापत्य में भगवान शान्तिनाथ

□ कु० मृदुलकुमारी शोधछात्रा

भगवान शान्ति जैन धर्म के सोलहवें तीर्थङ्कर हैं। जैन कला तथा स्थापत्य में भगवान् शान्तिनाथ का विशेष स्थान है। प्राचीन मन्दिरों, शिलालेखों ग्रन्थों तथा मूर्तियों के द्वारा इनकी महत्ता प्रकट होती है विभिन्न जैन तीर्थ स्थल तथा उनसे प्राप्त सामग्री इसकी साक्षी है। भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हस्तिनापुर में हुआ। आदिपुराण के अनुसार हस्तिनापुर की रचना देवों के द्वारा की गई।[1] यहीं पर सत्रहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ और अठारहवें अरहनाथ का भी जन्म हुआ। तीनों ने हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में दीक्षा तथा केवलज्ञान प्राप्त किया और पञ्चकल्याणक मनाये।

हस्तिनापुर में दिल्ली धर्मपुरा के नये जिन मन्दिर से वि० सं० १५४८ में भट्टारक जिनेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

९. प्रमेयकमलमार्तण्ड—अनुवादिका श्री १०५ आर्यिका।
— जिनमती जी पृ० १९९-२००

१०. डॉ० महेन्द्रकुमार जैन : जैनदर्शन पृ० ३०९।

११. हेतुना चेद्विना सिद्धिश्चेद द्वैतं स्याद्धेतु साध्ययो.।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मामतो न किम्.॥
—समन्तभद्र आप्तमीमांसा का० २६

१२. आत्मापि सदिदं ब्रह्ममोहात्पारोक्ष्यदूषितम्।
ब्रह्मापि स तथेवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्।
पुमर्थे निश्चित शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम्॥
—बृहदारण्यक वार्तिक

१३. प्रो० उदयन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्वदीपिका। पृ० १७९-१८०।

१४. अद्वैतं न बिना द्वैताय हेतुरिव हेतुना।
सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥
—समन्तभद्र अप्तमीमासा २७

१५. प्रो० उदयचन्द जैन · आप्तमीमासा तत्वदीपिका।

१६. कार्यभ्रान्तिरेणु भ्रान्तिः कार्यलिङ्ग हि कारणम्।
उदयाभाववस्तुस्थं गुण जातीत रञ्च न॥
—आप्तमीमांसा ६८

१७. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांस तत्वदीपिका पृ० २४२।

१८. दर्शन और चिन्तन : पं० सुखलाल जी पृ० १२५।

भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति लाकर मूल नायक के रूप में विराजमान की गई। इसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाता है।[2]

हस्तिनापुर में दिगम्बर जैन मन्दिर के द्वार के समक्ष ३१ फुट ऊँचा मान स्तम्भ बना है चारो ओर खुले बरामदे हैं और बीच में मन्दिर है जिसका एक खण्ड है इसे गर्भ गृह कहते हैं। इस मन्दिर मे तीन दर की एक विशाल वेदी है। उस पर भगवान शान्तिनाथ की श्वेत पाषाण की एक हाथ ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। इसके दोनों ओर कुंथुनाथ तथा अरहनाथ की प्रतिमा है।[3]

इस मन्दिर के पीछे एक-दूसरा मन्दिर है जिसके बायीं ओर वेदी में भगवान् शान्तिनाथ की ५ फुट ११ इंच की अवगाहना वाली खड्गासन प्रतिमा है। इसके मूर्तिलेख से ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठा संवत् १२३१ बैसाख सुदी १२ सोमवार को देवपाल सोनी अजमेर निवासी द्वारा हस्तिनापुर मे हुई थी। यह प्रतिमा ४० वर्ष पहले उस टीले की खुदाई में निकली थी, जिस पर श्वेताम्बरो ने अपनी नशिया बनवाई थी। यह प्रतिमा हल्के सलेटी रंग की है। इसके चरणों के दोनों ओर चँवरधारी खड़े हैं। सिर पर पाषाण की छत्र छाया तथा इन्द्र ऊपर से पुष्प वृष्टि कर रहे है। चमरवाहक स्त्री युगल खड़े हैं। पाद-पीठ पर हरिण का लांछन है।[4]

मन्दिर की उत्तर दिशा में तीन मील की दूरी पर जैन नशियां बनी है। सबसे पहले भगवान् शान्तिनाथ की नशियां मिलती हैं। टोक में स्वास्तिक बना है।[5]

'बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की जन्मभूमि शौरीपुर के समीप वटेश्वर नामक स्थान पर १८वीं शती के भट्टारक जिनेन्द्र भूषण द्वारा बनवाया गया तीन मंजिल का मन्दिर है। इस मन्दिर में शांतिनाथ भगवान् की मूर्ति है जो मूर्तिलेख के अनुसार संवत् १?५० बैसाख बदी २ को प्रतिष्ठित हुई। इस मूर्ति के परिकर मे बायी ओर एक खड्गासन और दायी ओर एक पद्मासन तीर्थङ्कर प्रतिमा है। चरणों में भक्त श्रावक बैठे हैं उनके बीच दो स्त्रियां मुकुलित कर पल्लव मुद्रा मे आसीन है। दो चमरवाहक इन्द्र इधर-उधर खड़े हैं ऊपर पाषाण की छत्रत्रयी है। ऊपर वीणावादिनी और मृदङ्गवादक बैठे हैं। पीठासन पर हरिण अंकित है।[6]

'उत्तर प्रदेश के आगरा जिले में फिरोजाबाद से २२ मील दूर मरसलगंज स्थान पर एक मन्दिर है। मुख्य वेदी पर भगवान् ऋषभदेव की श्वेत पाषाण पद्मासन प्रतिमा है तथा बायीं वेदी मे मूलनायक शांतिनाथ की प्रतिमा के साथ-साथ आठ पाषाण खड्गासन प्रतिमाएं एव दोनों ओर पाँच फुट अवगाहना वाली दो खड्गासन आधुनिक प्रतिमाएं हैं।[८]

उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के बानपुर गांव मे मन्दिर नम्बर चार में भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा विराजमाम है जो १५ फुट ऊंची खड्गासन है।

ललितपुर जिले के मदनपुर कस्बे मे जमीन तल से ३ फीट ंचे आसन पर एक विशालकाय भगवान् शान्तिनाथ का मन्दिर है। यह २८ फीट ऊचा, १८ फीट लम्बा तथा १३ फीट चौड़ा है। मन्दिर के शिखर पर एक सुन्दर कोठरी है, मन्दिर से लगा द्वार के सामने १३ फुट का एक चबूतरा है जिस पर पत्थरो के पायों पर बरामदानुमा बना है। मन्दिर का मुख पश्चिम मे पचमढी की ओर है। मन्दिर मे प्रवेश करने के लिए ८ फुट ऊचा, ४ फुट चौड़ा द्वार है। इस द्वार के ऊपरी भाग पर पद्मासन मूर्ति है। द्वार से प्रवेश कर ४ फुट गहरा मन्दिर का गर्भालय बना है। उसमे ३ मूर्तियां खड् ासन ध्यानस्थ मुद्रा में अष्ट प्रतिहार्ययुक्त खड़ी है मध्य में १० फुट उत्तुंग भगवान् शान्तिनाथ की खण्डित प्रतिमा है जो संवत् १२०० की है। मध्यमूर्ति के बांयें-दांयें महावीर और अरहनाथ की प्रतिमा है। गर्भालय का फर्श छिन्न-भिन्न हो गया है। दो विशालकाय मूर्तियों के धड पड़े हैं। एक दो वर्गफुट की चौमुखी मेरु गर्भालय में रखी है। मन्दिर के उत्तर की ओर बाहर पत्थर पड़ा है जिस पर १-१ फुट की १५ मूर्तियां बनी हैं। इस मन्दिर से ३०० मीटर चम्पोगढ़ है।[९]

'चम्पोगढ़ के दक्षिण में एक अर्ध भग्नावशेष दूसरा मठ है जिसमें शांति, कुंथ और अरहनाथ की मनोज्ञ प्रतिमाएं खड़ी हैं तीनों पर प्रशस्ति लिखी है। मध्य की मूर्ति ८ फुट ऊंची शेष दो ६ फुट ऊंची और टूटे हाथ वाली है।''

''चम्पोगढ़ से कोई दो फर्लांग दूर मोदीमठ मे एक मन्दिर है। इसका शिखर जीर्ण-शीर्ण है। गर्भगृह का फर्श उखड़ा हुआ है। मठ की दीवार ५ फुट चौड़ी, ऊंचाई २५ फुट तथा इसके अन्दर तीन मूर्तियाँ हैं। मध्य में भगवान् शांतिनाथ की ६ फुट ऊंची तथा दायें-बायें अरहनाथ और कुन्थुनाथ की प्रतिमाएं हैं। जिस पर फाल्गुन शुक्ल ४ संवत् १६८८ अंकित है। इसका मुख्य द्वार ६ फुट ऊंचा और ४ फुट चौड़ा है।''[१०]

''चौबीसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी (काशी) के भेलूपुरा मुहल्ले में दिगम्बर जैन मन्दिर है। इस मन्दिर मे तीन वेदियां हैं। दायी ओर की वेदी में बायीं ओर मे कृष्ण पाषाण के फलक पर भगवान् शांतिनाथ की उत्सर्ग मुद्रा मे ३ फुट ऊंची प्रतिमा है। इसके परिकर मे ६ भक्त हैं। दायी ओर भगवान् का गरुड यक्ष और महामानसी यक्षिणी है। दोनों ही द्विभुजीय हैं। यक्ष के हाथ मे फल तथा वज्र है। यक्ष के ऊपर गोद में बालक लिये यक्षी खड़ी है। ऊपर इन्द्र पारिजात पुष्प लिए खड़ा है। उसके बगल मे तथा ऊपर अर्हन्त खड्गासन प्रतिमा है। उनके ऊपर गज है, जिस पर कलश लिए हुए इन्द्र बैठा है। फिर आकाशचारी देव देवियाँ कमल पुष्प लिए दीख पडती है। छत्रछयी के ऊपर वाद्ययन्त्र बजाता एक पुरुष है, उसके कधे पर स्त्री बैठी है।''[११]

'प्रयाग म्यूजियम में पपोसा से प्राप्त १२वीं शती की भूरे बलुए पाषाण की पद्मासन में स्थित और अवगाहना दो फुट तीन इंच की भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा है। इसके दोनो ओर खड्गासन प्रतिमा है। उनके ऊपर कोष्ठक में पद्मासन प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। भामण्डल का अंकन कला पूर्ण है। अधोभाग में यक्ष यक्षिणी तथा शीर्ष भाग मे पुष्प लिए आकाशचारी देव है।

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त उड़ीसा में प्राचीन काल से एक प्रधान धर्म के रूप मे जैन धर्म का प्रचलन रहा है। कटक तथा भुवनेश्वर में भगवान् शान्तिनाथ की मनोहर मूर्तियां मिली हैं। 'कटक मे जैन मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की पाषाण मूर्ति मिलती है।[१२] भवनेश्वर म्यूजियम में भगवान् शान्तिनाथ की दिगम्बर प्रतिमा उपलब्ध है।

'खजुराहो के अनेक प्राचीन जैन मन्दिर की सामग्री से पता चलता है कि लगभग १०० वर्ष पूर्व यहां भगवान् शान्तिनाथ के विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ था। इस मन्दिर में मूल नायक १६वें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की १२ फुट ऊंची कायोत्सर्ग मुद्रा की अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश है तथा

उसकी पीठिका पर संवत् १०८५ का एक पंक्ति का मूर्ति लेख और हरिण चिह्न है। इस मन्दिर में वर्तमान १२ वेदियों में से तीन प्राचीन मन्दिर ही थे उनकी जघा, गर्भ-गृह, मण्डप आदि अभी भी ज्यो के त्यो हैं। ऊपर कुछ नवीन निर्माण करके उन्हें इस बड़े मन्दिर का अग बना लिया गया है। शेष वेदियो और द्वारों आदि पर भी प्राचीन मन्दिरों की सामग्री प्रचुर मात्रा मे लगी हुई है।[13]

शान्तिनाथ मन्दिर के आंगन मे पहुचते ही बायी ओर दीवार में २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के सेवक धरणेन्द्र और पद्मावती की सुन्दर मूर्ति लगी है। इसमे यक्ष दम्पति एक सुन्दर और सुडौल आसन पर ललितासन मे मोदमग्न बैठे हैं। इनके हाथ मे श्रीफल है।[14]

शान्तिनाथ मन्दिर के मुख्य गर्भाशय की दायी ओर दीवार पर भगवान् महावीर की शासन देवी सिद्धायिका की सुन्दर मूर्ति है अम्बिका की मनोज्ञ प्रतिमा नम्बर २७ मे है। इसी मन्दिर में संवत् १२१५ की श्याम पाषाण की सलेख प्रतिमा तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ की है, जिसके मूर्तिलेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा उन्ही पाटिल सेठ के वंशधरों द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई जिन्होंने दो सौ वर्ष पूर्व खजुराहो मे विशाल कलात्मक पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था।[15]

"राष्ट्रीय सग्रहालय मे भगवान् शान्तिनाथ की कांस्य प्रतिमा विद्यमान है। इस प्रतिमा मे तीर्थंकर को सिंहासन पर ध्यानमुद्रा मे बैठे हुए दर्शाया गया है। उनकी आखें श्रीवत्स चिह्न आदि चादी और ताबे की पच्चीकारी से बने हैं। उनके पार्श्व मे दोनो ओर बने आयताकार देवकोष्ठको मे तीर्थंकरो को बैठे हुए दिखाया गया है। इनके नीचे भी कायोत्सर्ग तीर्थंकर अंकित है। सिंहासन के पार्श्व में तीर्थंकर के यक्ष एवं यक्षी अंकित है और पादपीठ के सम्मुख भाग पर नवग्रह, चक्र और उसके दोनो ओर हिरण आदि अंकित हैं। सिंहासन के आगे सिंहो के मध्य में तीर्थंकर का लाछन अंकित है। प्रतिमा के पीछे संवत् १५२४ का अभिलेख उत्कीर्ण है।[16]

कुम्भरिया स्थित शान्तिनाथ मन्दिर (१०८२ ई०) एक सम्पूर्ण चतुर्विंशति जिनालय है, जिसमें पूर्व और पश्चिम दोनो दिशाओं में आठ देवकुलिकायें हैं तथा रग-मण्डप के प्रवेश स्थल के दोनों ओर चार देवलियाँ हैं। इस मन्दिर के त्रिक में छह चतुस्कियां हैं और इसके खड़कों का बहुत सुन्दर अलंकरण किया गया है। जगती के दक्षिण पश्चिमी कोने में एक छोटा पूजास्थल है जिसमें चतुर्मुख नन्दीश्वर दीप की रचना है। गूढ़ मण्डप में सादी संवरणा है।[17]

राजस्थान के जैसलमेर में सन् १४८० के निर्मित शान्तिनाथ मन्दिर की छतें और संवरण (घण्टे के आकार की छत) अपनी जटिलता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। शान्तिनाथ मन्दिर के गुम्बदो और कंगूरों की उपस्थिति तथा तदनुरूप बाह्य सरचना की सरलता और सादगी सल्तनत स्थापत्य के प्रभाव को प्रदर्शित करती है।[18]

चित्तौड़गढ मे तीर्थंकर शान्तिनाथ को समर्पित शृगार चौरी (चित्र २२०) स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। सन् १४४८ का निर्मित यह मन्दिर पचरथ प्रकार का है। जिसमे एक गर्भगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा से सलग्न चतुस्किया है। गर्भगृह भीतर से अष्टकोणीय है जिस पर एक सादा गुबद है। मन्दिर की बाह्य सरचना अनेकानेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त मूर्ति शिल्पो से अलकृत हैं और जंघाभाग पर उद्भृत रूप से उत्कीर्ण दिक्पालो अप्सराओं, शार्दूलों आदि की प्रतिमाये हैं। मानवो या देवी-देवताओ की आकर्षक आकृतियो के शिल्पांकन भी यहा पर उपलब्ध है। मुख्य प्रवेश द्वार की चौखट के ललाट बिम्ब मे तीर्थंकर के अतिरिक्त गगा और यमुना, विद्या देवियाँ तथा द्वारपालो की प्रतिमाए अंकित हैं। गर्भ गृह के मध्य मे मुख्य तीर्थङ्करप्रतिमा के लिए एक उत्तम आकार की पीठ है तथा कोनो पर चार स्तम्भ हैं जो वृत्ताकार छत को आधार प्रदान किए हुये है छत लहरदार अलकरणयुक्त अभिकल्पनाओ से सुसज्जित है जिसमे पद्म-शिला का भी अकन है। इसके चारो ओर गजतालु अन्तरावकाशो से युक्त अलकरण है। इस मन्दिर क मूर्तिशिल्प का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि मन्दिर के बाहरी भाग के भीतर अष्टभुजी विष्णु और शिवलिंग जैसी हिन्दू देवताओ की उद्भृत प्रतिमाएं भी हैं। चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से यह शिलांकित आकृतियां विशुद्ध रूप से परम्परागत हैं।[19]

मूडबिद्री से २० किलोमीटर दूर वेणूर मे कुछ जैन मन्दिर हैं जिनमे से शान्तीश्वर बसदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमे १४८९-९० ई० का जो उल्लेख है वह यहां सबसे प्राचीन है। आमूल चूल पाषाण से निर्मित

इस मन्दिर के द्वितीय तल पर भी एक गर्भालय हैं, जिसमें एक तीर्थङ्कर मूर्ति है और जिसकी छत कुछ स्तूपाकार है। निर्माण की यह प्राचीन पद्धति विशेषतः कर्नाटक क्षेत्र में प्रचलित रही है। इसका आरम्भिक उदाहरण ऐहोल का लाट खां का मन्दिर है। शान्तीश्वर बसदि के सामने एक सुन्दर शिल्पांकन युक्त मानस्तम्भ है।[२०]

इसके अतिरिक्त विभिन्न शिलालेखों तथा ग्रंथों के द्वारा भगवान् शान्तिनाथ के मन्दिरों एवं मूर्तियों का विवरण प्राप्त होता है—

"९-१०वीं शताब्दी में आर्यसेन के शिष्य महासेन तथा उनके शिष्य चांदिराज ने त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया उसमें तीन वेदियों में त्रिभुवन, के स्वामी शान्तिनाथ पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां बनवा कर प्रतिष्ठित की और उसके लिए जमीन तथा मकान सन् १०५४ मे बैसाख मास की अमावस्या सोमवार को दान दी।"[२१]

११वी शती के आचार्य शान्तिनाथ भुवनैकमल्ल (१०६८-१०७६ तक) पराजित लक्ष्य नृपति के मंत्री थे। इनके उपदेश से लक्ष्य नृपति के बालिग्राम मे शान्तिनाथ भगवान् का मन्दिर बनवाया। यह शक संवत् ९९० के गिरिपुर के १३६वें शिलालेख से ज्ञात होता है।

"११वी शताब्दी के आचार्य प्रभाचन्द ने चालुक्य विक्रम राज्य सवत् ४८ (११२४ ई०) में अग्रहार ग्राम सेडिम्ब के निवासी नारायण के भक्त चौसठ कलाओ के जानकार, ज्वालामालिनी देवी के भक्त तथा अपने अभिचार होम के बल से कांचीपुर के फाटकों को तोड़ने वाले तीन सौ महाजनों ने सेडिम मे मन्दिर बनवा कर भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी और मन्दिर पर स्वर्ण कलशारोहण किया था। मन्दिर की मरम्मत और नैमित्तिक पूजा के लिए २४ मत्तर प्रमाण भूमि, एक बगीचा और एक कोल्हू का दान दिया था।"[२२]

"१३-१४वी शती में त्रिकूट रत्नत्रय शान्तिनाथ जिनालय के लिए होयसल नरेश नरसिंह ने माघनन्दि आचार्य को कल्लनगेरे नाम का गाँव दान मे दे दिया था। दौर समुद्र के जैन नागरिकों ने भी शांतिनाथ की भेंट के लिए भूमि और द्रव्य प्रदान किया था।"[२३]

"सन् १२०७ में बान्धव नगर मे कदम्ब वंश के किंग ब्राह्मण के राज्य में शान्तिनाथ वसदि की स्थापना हुई।"[२४]

शक संवत् १११९ में महादेव दण्डनायक ने 'एरग' जिनालय बनवा कर उसमे भगवान् शांतिनाथ की प्रतिष्ठा कर १३वी शती के सकलचन्द भट्टारक के पाद प्रक्षालन पूर्वक हिडगण तालाब के नीचे दण्ड से नाप कर ३ मत्तल-चावल की भूमि, दो कोल्हूं और एक दुकान दान की।"[२५]

अतः जैन कला के अन्तर्गत शिलालेख, ताम्रपत्र, लेखक, प्रशस्तियों मूर्तिलेखो आदि उपलब्ध साधन सामग्री से भगवान् शांतिनाथ की महत्ता स्पष्ट होती है। स्थापत्य की दृष्टि से भगवान् शांतिनाथ के मन्दिर प्राप्त मूर्तियां तथा भग्नावशेष का जैन कला में एक विशिष्ट स्थान है।

सन्दर्भ-सूची

१. आदिपुराण—१६।१५२।
२. आर्यिका ज्ञानमती : ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर पृ० १०-१२।
३. भारत के दिगम्बर जैनतीर्थ, भाग १, पृ० ७४।
४. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग १ (चित्र फलक पृ० ६) तथा ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर, पृ० १४।
५. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग १, पृ० २९।
६. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० ७४।
७. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० ८४।
८. बिमलकुमार जैन सोरया : कला तीर्थमदनपुर पृ० १४
९. कला तीर्थमदनपुर पृ० १६।
१०. कला तीर्थमदनपुर पृ० १७।
११. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० १२८ ९
१२. डा० लक्ष्मीनारायण साहू : उड़ीसा में जैन धर्म, चित्रफलक १।
१३. श्री नीरज जैन : खजुरहो के जैन मन्दिर, पृ० ३८-४०।
१४. खजुराहो के जैन मन्दिर चित्र २।
१५. खजुराहो का जैन मन्दिर, पृ० ४३-४४।
१६. जैन कला एव स्थापत्य खण्ड २, पृ० ५७९।
१७. वही पृ० ३०४।
१८. जैन कला एवं स्थापत्य खण्ड २ पृ० ३४५-३४६।
१९. जैन कला एवं स्थापत्य भाग २ पृ० ३४४।
२०. वही पृ० ३७७।
२१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ० २२७-२२८।
२२. परमानन्द शास्त्री : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ० ३७६।
२३. जैन लेख संग्रह भाग ४ पृ० २५८।
२४. मिडियावल जैनिज्म पृ० २०९।
२५. जैन लेख संग्रह, भाग ३, पृ० २४६।

विष-मिश्रित लड्डू[1]

(अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर-कृति)

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

—"अनुत्तर-योगी में भूलें रहीं हैं उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब वो सांस्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन को कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था—आपाततः। इतनी गहराई से नहीं देखा था।" (एक सम्मति)

जिन धर्म उन पवित्र उच्च आत्माओं की परम्परा से प्रवाहित धर्म है, जिन्हें तीर्थंकर नाम से जाना जाता है। जैसे सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में हुए वैसे ही उनके द्वारा प्रवाहित धर्म भी क्षत्रिय गुणधारकों द्वारा ही पालन किए जाने योग्य रहा। जो क्षत्रिय अर्थात् धर्म पर दृढ़ रहने वाला हो वही इस धर्म के धारण का अधिकारी हो सकता है—चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यो न हो? समय या परिस्थितियों से समझौता करने वाला कोई भी व्यक्ति इस धर्म का अधिकारी नही हो सकता। क्योकि समझौते मे कुछ लिया, कुछ दिया जाता है, कुछ झुकना और कुछ झुकाना होता है और इससे मूल मे बदलाव आता है। जबकि धर्म, सिद्धान्त और वस्तु के स्वभाव में कभी भी बदलाव नही आता। धर्म धारण मे किसी अन्य विभाव की अपेक्षा भी नही की जाती। वहां तो "जो घर फूंकं आपनो, चलै हमारे साथ" वाली नीति होती है। इसी नीति पर चलने के कारण आज तक धर्म का पुरातन—अनादि दिगम्बर स्वरूप स्थिर रह सका है। आज वे ही व्रत हैं, वे ही दशधर्म और वे ही गुप्ति, समितियां आदि हैं। श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ भी वे ही हैं, जो पहिले रहे। दिगम्बर-मुद्रा, चर्या और मोक्ष के उपाय भी वे ही हैं, यदि कभी इनके स्वरूपों का दूसरे स्वरूपों से समझौता हुआ होता तो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद भी न हुए होते अपितु धर्म का समझौते से फलित कोई नवीन (एक) अन्य रूप ही होता।

इतिहास इसका साक्षी है कि अपनी कमजोरियों के कारण जब कभी भी किसी ने धर्म के रूप को समय के प्रवाह के अनुरूप बदलना चाहा और बदला तभी एक नए पंथ का जन्म हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार—जो सबसे पहिले एक—दिगम्बर थे १२ वर्ष के दुष्काल के प्रभाव से (कुछ के समयानुकूल बदल जाने के कारण) वे दो बन गए और धीरे धीरे अनेको भेदों में भी फूट पड़े। जैसे—दिगम्बरों में तेरहपथ, बीसपथ तारनपंथ जैसे पंथ और श्वेताम्बरो मे मूर्तिपूजक, स्थानकवासी तेरह और बीस पंथ आदि।

इन प्रसगों से हमें यही सीखना चाहिए कि समय के अनुसार धर्म मे परिवर्तन कर लेना ऐसी प्रक्रिया है जो भेदों में बांट देती है और धर्म के अनुसार समय मे परिवर्तन लाने की प्रक्रिया अभेद को बल देती है। पर, आज लोगों का एक नारा बन गया है कि 'धर्म को समय के अनुसार बदल लेना चाहिए।' यह नारा धर्म के स्वरूप का घातक ही है। उदाहरणार्थ—अण्डा आमिष है और आज के समय मे इसे वेजीटेरियन में शुमार करने का प्रचलन-सा चल पड़ा है। यदि समय के अनुसार इसे वेजीटेरियन मान लिया जाय तो प्रसग मे मास त्याग नामक व्रत में अण्डा ग्राह्य हो जाएगा और खान-पान के जैन नियमों मे अव्यवस्था हो जायगी। फलतः श्रावक की

१. पूज्य १०५ आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी।

क्रियाओं को बदलाव देना पड़ेगा। इसी प्रकार वर्तमान लोक में दिगम्बर वेष को अव्यवहार्य के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाने लगा है। यदि समय के अनुसार दिगम्बरत्व को भी तिरस्कृत कर दिया जाय तो **साम्बरत्व** शेष रहने से दिगम्बरत्व का अस्तित्व ही नि शेष हो जायगा।

आश्चर्य है कि अब दिगम्बर जैनो मे भी ऐसे लोग पैदा हो रहे हैं जो त्याग, इन्द्रिय-सयम आदि की उपेक्षा कर समय की माग और एकता के नाम पर विपरीत प्रचार करने पर तुले हैं। जब हमारे साथी ने एक से पूछा कि आपने किसी श्रावक को रात्रि-भोजी प्रचारित कर अपमानित किया है। तब बोले—आज समय की माग है और ऐसा चलन चल पड़ा है— प्राय: सभी रात्रि-भोजन करने के अभ्यासी बन रहे हैं। ऐसे ही एक सज्जन का कहना है कि यह अर्थ युग है, इसमें सफद को स्याह और स्याह को सफेद किए बिना काम नही चलता। फलत: अकिंचन को चक्रवर्ती और चक्रवर्ती को अकिंचन बना कर —जैसे भी हो कार्य साधना चाहिए—**'आपत्काले मर्यादा नास्ति।'** उक्त प्रसग सुनकर हमने सिर धुना— **'अर्थी दोषं न पश्यति।'**

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर पुस्तक' ऐसे ही लोगो की घुसपैठ का परिणाम है। इसमें समय की माग के बहाने दो सप्रदायो मे एकता कराने के नाम पर कल्पनाओ की ललित उड़ानो मे दिगम्बर सिद्धान्तो को दूषित किया गया है। उक्त पुस्तक की विसगतियो को हमने पाठको के समक्ष भली भाँति रखा था और प्रबुद्ध वर्ग ने हमे समर्थन भी दिया। फिर भी कई पत्रकार विज्ञापन चार्ज के लोभ मे इस हलाहल के प्रचार में सहयोगी हो रहे है और इसका प्रचार ऐसे किया जा रहा है—'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र मे उपन्यास।' यह भी कहा जा रहा है कि इसे दिगम्बर मुनियो ने देखा है इसे उनका समर्थन प्राप्त है। जब कि आज तक ऐसे कोई एक दिगम्बर मुनि भी दिगम्बर वेष और चर्या को साम्बरत्व रूप मे परिवर्तित करने का साहस न जुटा सके है—सभी जहाँ के तहाँ हैं। क्या प्रशंसक चाहते हैं कि इस पुस्तक के अनुसार महावीर के परिप्रेक्ष्य में दि० मुनि नवधाभक्ति को तिरस्कृत कर घर-घर याचना करते फिरें? आदि।

पुस्तक मे सिद्धान्त की जो बातें हैं वे दिगम्बरत्व का लोप करने वाली है और उन्हे अभी से **'शास्त्र'** के नाम से प्रचारित कर कहा जा रहा है—"अनुत्तर-योगी" का प्रकाशन सुचिन्तित है, दूरदर्शितापूर्ण है, इसमे ऐसा कुछ नहीं है जो आपत्तिजनक हो।' एक कहते हैं—'यह धर्म-ग्रन्थ नही है' तो दूसरे इसे शास्त्र की गहनता से शास्त्र की आसन्दी पर पढ़ा गया बतला कर मुनियो द्वारा देखा हुआ भी बतलाते हैं अर्थात्—जिस अनर्थ के कालान्तर मे उत्पन्न होने की आशका हमने प्रकट की थी वह अनर्थ आज ही अकुरित होने लगा है। विज्ञापन मे इसे धुरधर जैन विद्वानो द्वारा प्रशसित भी बतलाया जा रहा है—चाहे वे विद्वान सिद्धान्त के विषय मे इसके पोषण से साफ मुकर रहे हो।

विज्ञापन में जिन विद्वानो के अभिमत दिए जा रहे है उनमें से एक का स्पष्टीकरण हमे दिनांक ८-५-८४ में मिला है वे लिखते हैं—"अनुत्तर-योगी में भूलें रहीं हैं उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब दो सास्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन की कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था—आपातत। इतनी गहराई से नहीं देखा था।"

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग अज्ञानता वश धर्म मे अप-टू-डेट नवीनता लाने के बहाने या किन्ही अन्य (नमालूम) कारणो से दिगम्बर-मुनि-प्रतिष्ठा और पूर्वाचार्यों की धरोहर जिनवाणी के क्षीण करने मे कारण बन रहे है। और श्री पाटौदी जी की सरलता का भी दुरुपयोग कर रहे हैं।

गत दिनो हमने एक लेख ऐसा भी पढ़ा जिसमें बाहुबली-कुम्भोज मे धर्म-रक्षार्थ किए गए मुनि श्री के अनशन को राजनीति-प्रेरित आदि कुरूपो मे प्रचारित किया गया। जैसे—"राजनैतिक भूख हड़ताल? समाज के वरिष्ठ लोगों को बीच मे डालकर प्रधानमत्री से अनशन पूर्ति करवाने का दिखावा। अपने आप को विज्ञापित करने का सस्ता तरीका? राजनैतिक लोगो की खुशामद!' आदि। इसी में 'एलाचार्य' पद का उपहास भी किया गया था और इस

सब में निमित्त बना (?) ऐसे ही लोगों मे से एक के द्वारा किया गया 'अयाचित अनधिकृत बुद्धिदान का प्रयत्न' (देखें—तेरापंथ भारती १५ अप्रैल १९८४)।

हम उन लोगों को क्या कहें जिनकी बुद्धि में प्राचीन शास्त्रो को पढने वाले हम, हमारे गुरु, विद्वज्जन सभी आगमान्ध, माथापच्ची करने वाले और शऊर-हीन हों ? हां, इस बात से हम असहमत नही हैं कि 'इन्दौर की समाज सूझ-बूझ से खाली नही', उसमे आज भी सरसठ हुकुमचन्द जी की भांति धर्म-रक्षक विद्यमान हैं। फलत: वहां से उक्त उपन्यास को आगम-बाह्य बतलाने के साहस-पूर्ण सदेश भी हमे आए हैं।

'उक्त पुस्तक को पूज्य एलाचार्य जी ने देखा है' ऐसा कहना भी भ्रमपूर्ण है। यत: श्री एलाचार्य जी हमारे श्रद्धास्पद परम दिगम्बर गुरु हैं वे दिगम्बरत्व के अनुरूप 'सत्वेषु मैत्री' के भाव मे सम-सामाजिक व्यवस्था, एकत्व, मैत्री आदि को तो चाहेंगे पर दिगम्बर देव-शास्त्र-गुरुओ और सिद्धान्तो की बलि देकर नही। यह हो सकता है कि उन्होने धर्म-प्रचारार्थ लिखाने की इच्छा प्रकट की हो और वे कभी लेखनी से भी प्रभावित रहे हों।

हमने अभी पूज्य एलाचार्य जी की वह भेंट-वार्ता भी पढ़ी है जो श्री दशरथ पोरेकर तथा उत्तम कांबले के साथ हुई है और मराठी दैनिक समाचार 'सकाल' के २५ मार्च ८४ के रविवारीय अंक मे 'प्रश्न अजून सपलेला नाही' शीर्षक में छपी है। इसमे विपरीत मनोवृत्ति वालो को लक्ष्य कर मुनि श्री ने कहा है—**"कुछ काम न करके दूसरों का बल पूर्वक हड़पने की उनकी वृत्ति है। चीटियो के द्वारा बनाई गई बाँबी में जैसे साँप घुस जाता है, वैसे ही धन्धे वे लोग सर्वत्र करते रहते हैं।" ......'श्वेताम्बरों को किसी मन्दिर में मूर्ति की स्थापना के लिए स्थान देना धोखे में पड़ना है।'..... स्वयं कृष्ण भी आ जावें तो वे श्वेताम्बरों को नहीं समझा सकते।' आदि।**

क्या, उनकी उक्त धारणा स्पष्ट नही करती कि सिद्धातो के घोल-मोल मे पूज्य श्री की अनुमति नही ? प्रशसक पूज्य मुनि श्री के अतुस्तल की पहिचानें—मुनि अपवाद से विराम लें। उक्त पुस्तक के आगम-बाह्य होने के सबध मे अन्य दिगम्बर मुनियों, त्यागियों, विद्वानों और प्रबुद्ध पाठकों के नवीन आए अभिमत भी इस अक में 'ताकि सनद रहे और काम आए' शीर्षक मे देखें।

उक्त प्रसंग पर हमने कई भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सस्थाओं का ध्यान भी खीचा है और उनसे प्रार्थना की है कि वे इस विषय को पर-मुखापेक्षीपना छोड़कर भावी-पीढ़ी पर कुप्रभाव पडने के प्रसग मे विचारें और करणीय करें। अन्यथा—आयोजको ने इसे शास्त्र घोषित कर दिया है और भावी-पीढ़ी इसे पढ़कर महावीर के चरित्र व सिद्धान्तो मे श्वेताम्बरी-आस्था करेगी और दिगम्बरत्व का घात अपने द्वारा ही होगा तथा "समय के अनुसार धर्म के रूप को बदलने जैसे ना समझी के परिणाम आगामी पीढ़ियो के पछतावे-रूप मे फलीभूत होंगे।

ग्रन्त में :—

यद्यपि हममे भाषा चातुर्य नही है फिर भी अपनी भाषा मे एक बात और स्पष्ट कर दें—कि हमे सूचना मिली है किसी एक पक्ष ने इच्छा प्रकट की है कि—'श्री-विद्यानन्द जी महाराज का दिया गया निर्णय प्रकाशको को मान्य होगा एव तदनुसार वे सशोधन की सोच सकते हैं तथा बाध्य किए जा सकते हैं'—गोया **वह पक्ष गलती का एहसास कर रहा है** [हर्ष]। पर ऐसे पक्ष को अब भी स्पष्ट सोचना चाहिए कि ग्रन्थ के अशो मे :—

१. क्या मुनिश्री ने भ० महावीर के कानो मे सलाइयां ठुकवाने का समर्थन किया।
२. महावीर मुनि को नवधा भक्ति के बिना आहार ग्रहण को क्या उन्होने सराहा ?
३. क्या उन्होंने केवली अवस्था मे महावीर पर तेजोलेश्या जैसे उपसर्ग का समर्थन किया था।
४. उन्होंने किसी स्त्री को अरहंत बनने को स्वीकारा ?

यदि ये सब नही, तो क्यों उनके आदेश की प्रतीक्षा है ? ये तो सिद्धान्त की बाते हैं। इनका निराकरण स्वत: ही कर देना चाहिए। जो सिद्धान्त के साधारण जानकार के वश की भी बात है जब कि प्रबुद्ध भी इसके विरोध में सम्मति दे रहे हैं।

उक्त भूलें ऐसे लोगों से हुई प्रतीत होती हैं जो भावावेश वश सुधार में अपना दृष्टिकोण लादने या अन्य (न मालूम) किन्हीं सिद्धियों में मुनिश्री की आड़ लेकर, न चाहते हुए भी उन्हें बदनाम करने के साधन जुटा रहे हैं। श्री ऐलाचार्यजी या अन्य कोई दि० मुनि ऐसा सिद्धांत घातक आदेश न दे सकेंगे। और न ही अनुत्तरयोगी को शास्त्र बतलायेंगे जैसा कि दु:साहस किया जा रहा है। हम समझते हैं कि मुनि श्री ने न तो पूरी मूल पाण्डुलिपि पढ़ी है, न प्रूफ पढ़ा है और ना ही उन्होंने प्रेस को छापने का फायनल आदेश दिया होगा।

दिगम्बरत्व के प्रति समर्पित रहने के मुनिश्री के पर्याप्त प्रसंग है। पाठकों ने इस लेख में भी कुछ प्रसग पढ़े। हम बता दें कि मुनि श्री विश्व धर्म के प्रेरणा स्रोत हैं, उनके द्वारा धर्म का प्रचार हो रहा है। वे सद्भावनावश अनेक रचनाओं के प्रेरक रहे हैं : उनका उपन्यास लिखाने में प्रयोजन यही रहा होगा कि भ० महावीर एव दिगम्बर सिद्धान्तों से लोग परिचित हो। पर, उनकी सदभावनाओं का दुरुपयोग किया गया और अब उनकी दुहाई भी देने का दु:साहस किया जाने लगा है कि वे कहें तो संशोधन कर सकते हैं—आदि। यह हमें इष्ट नहीं है। हम चाहते हैं—पू० मुनिश्री को इस प्रसंग में लाने की कोशिश न की जाय। ग्रंथ के सम्बन्ध में मुनि श्री की मोहर होने का भ्रम ही आज तक प्रतिष्ठित व नेतागण को मौन के लिए प्रेरित कर रहा है। कोई तो वायदा करके भी इस पुस्तक रूपी विष के विरोध मे मोटी सूचनाएँ तक छापने से भी भयभीत है। कुछ का तो प्रस्ताव है कि पुस्तक के विरोध करने में हम पर्याप्त धन देने को तैयार हैं पर हमारा नाम न लिया जाय; आदि। ये सब भय भावी पतन के ही आसार हैं जो हमे मजूर नही। अत: स्पष्टीकरण होना चाहिए।

हम विश्वास दिला दें कि हम पुस्तक संयोजकों के अपने हैं। 'वीर सेवा मन्दिर' और 'अनेकान्त' दि० सिद्धान्तों और दि० गुरुओं की मर्यादा की सुरक्षा हर कीमत पर चाहते हैं—इसे अन्यथा न लें। और बाहुबली कुम्भोज प्रसग से शिक्षा लें। □□

अनुत्तर-योगी में कुछ विसंगतियां

१. "सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्व श्रेणियों पर आरूढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माएं नारकी और तिर्यंच योनियों तक में आ पड़ती है।"
(भाग २ पृ० ५१)

२. "उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सन्मुख खड़े होकर श्रमण ने पाणिपात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :—
किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर दें। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन मे कुलमाष धान्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फैले करपात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।"
(भाग २ पृष्ठ १५२)

३. "ना कुछ समय में ही ग्वाला कहीं से कांस की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किये। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों मे वे सलाइयां बेहिचक खोंस दीं। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा।"
(भाग २ पृ० २१८)

४. "चम्पा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यों (साल, महासाल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण मे यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचो शिष्यो ने गुरू को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप में प्रभु के समक्ष लिवा ले गये फिर आदेश दिया कि—आयुष्यमान मुमुक्षुओ, श्री भगवान का वन्दन करो। वे पांचों गुरु आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी—केवली की आशातना न करो, गौतम ! ये पाचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।"
(भाग ४ पृ० २८४-२८५)

'ताकि सनद रहे और काम आए'

इन्दौर से प्रकाशित ग्रन्थ 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' दिगम्बर आगम के विरुद्ध है। इस पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है और प्रबुद्ध वर्ग इस ग्रन्थ को दिगम्बर आम्नाय विरुद्ध ठहरा रहा है। गतांक में कुछ सम्मतियां प्रकाशित की गई थीं। सम्मतियों की दूसरी किश्त प्रस्तुत है—कई प्रबुद्धों की सम्मतियां हमारे अनुकूल होने पर भी उनके न छपाने के आग्रहवश हम नहीं दे पा रहे हैं।
—सम्पादक

पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज :

सेठ श्री उम्मेदमल पाण्डया व ब्र० पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री किशनगढ़ पंच कल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव पर महाराज श्री के साथ दस दिन तक रहे। 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है, के बारे में पू० आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज व आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज से पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित लेख पर चर्चा हुई। आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में कहा कि—"तीर्थंकरों का जीवन चरित्र एक यथार्थ है और जो यथार्थ है उस पर कभी उपन्यास नही लिखा जा सकता उपन्यास में कोरी कल्पना ही होती है। श्री पद्मचन्द्र जी शास्त्री ने इस विषय को उठा कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त की रक्षा की है। और मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह उपन्यास की किताबें हमारी ही दिगम्बर जैन संस्था ने छपवाई हैं। इस तरह की किताबों से हमारी परम्पराएँ विकृत होती हैं। इस तरह की किताबें छापना उचित नहीं है।"

श्री १०८ पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज

हमने अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' इन्दौर से प्रकाशित ग्रन्थ देखा, उसमें बहुत सी बातें दिगम्बर जैन सिद्धान्तों के विपरीत पाईं जो आगामी पीढ़ी को विपरीत-मार्ग दिखाएंगी और दिगम्बर मान्यताओं का लोप करेंगी। अतः—इस ग्रन्थ को दिगम्बर आम्नाय-अनुसार नहीं मानना चाहिए और इसका प्रतिवाद होना चाहिए। ऐसा न हो कि कालान्तर मे विपरीत-मत की पुष्टि हो और यह ग्रन्थ प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाय। इसकी भाषा उपन्यास के अनुरूप ठीक है परन्तु सिद्धान्तों को बिल्कुल विपरीत कर दिया गया है—जब कि सिद्धान्तों की पुष्टि होनी चाहिए थी।

हमारा आशीर्वाद है कि यह संकट शीघ्र दूर होगा और दिगम्बर मार्ग की रक्षा होगी।

आचार्यकल्प श्री १०८ मुनिश्री ज्ञानभूषणजी महाराज

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर-उपन्यास दिगम्बर आम्नाय पर प्रत्यक्षरूप से कुठाराघात करने वाला है। इसके अन्तर्गत महावीर के जीवन और उनके द्वारा प्रतिपादित जिन सिद्धान्तों को लिखा है वह दिगम्बर आम्नाय पर आवरण डालकर मिथ्यामार्ग को पुष्ट करने वाले कलंक हैं। इस प्रकार के साहित्य के प्रचार व प्रसार पर रोक लगनी चाहिए।

आचार्यकल्प श्री १०८ मुनिश्री दर्शनसागर जी महाराज :

अनुत्तर-योगी जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है व आप का अनेकान्त में लेख व विद्वज्जनों की टिप्पणियां पढ़ीं। आपने इसकी विसंगतियों की तरफ समाज का ध्यान आकर्षित कर बहुत उपयोगी कार्य किया। इस पुस्तक के कुछ प्रसग दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध हैं। कोई शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर नहीं है।

आर्यिकारत्न १०५ श्री ज्ञानमती माता जी :

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' उपन्यास की प्रशंसा मैंने बहुत बार सुनी थी किन्तु अपने लेखन कार्य की व्यस्तता अथवा मेरे सामने उस ग्रन्थ का न आना ही कारण रहा कि जिससे मैंने उसे आज तक पढ़ा ही नहीं।

आज मैंने आपके मुख से सुना और अनेकान्त पत्रिका में आपका लेख पढ़ा कि इसमें ऐसे अनेक अंश हैं जो दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के विरुद्ध स्त्री-मुक्ति आदि को कह रहे हैं। अंतरंग में दुःख हुआ। आप बहुश्रुत विद्वान हैं साथ ही एक अच्छे निर्भीक वक्ता और साहसी लेखक हैं। दिगम्बर-आम्नाय के सरक्षण की भावना आपके अन्दर भरी हुई है। आप जैसे विद्वान् आज विरले ही हैं। प्रत्युत जैन-साहित्य मे अन्य सिद्धान्तों का मिश्रण कर उसे **विषमिश्रित-लड्डू** बना रहे हैं। ऐसे समय में आप जैसे विद्वान् चिरायु होकर चिरकाल तक जैन-शासन के मूल सिद्धान्त की रक्षा करने में सभी धर्म प्रेमियों को जागरूक करते रहे आपके लिए यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

श्री पं० शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड :

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' नाम की पुस्तक मे दिगम्बर जैन आगम के विपरीत जो लिखा गया है वह आने वाली दिगम्बर पीढ़ी के लिए महान् सकट पैदा करने वाले विषय हैं। इन्हीं विषयो का आपने बहुत बड़े साहस के साथ खंडन कर दिगम्बर परम्पराओ का सरक्षण किया है। दिगम्बरत्व मे आस्था रखने वाले सभी दिगम्बर विद्वान् एवं त्यागीवर्ग को इन आर्षमार्ग से विपरीत लेखो का बहिष्कार करके दिगम्बरत्व का सरक्षण करना चाहिए। मैं पं० श्री पद्मचन्द्र शास्त्री जी के लेखो की हृदय से सराहना करता हू और पंडित जी जैसे निर्भीक विद्वान का साधुवाद करता हू।

श्री मल्लिनाथ जैन शास्त्री (संपादक जैन गजट) मद्रास

अनुत्तर-योगी के विषय में आपके विचार बिल्कुल सही हैं। आपने दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा के लिए जो कदम उठाया है, वह हर तरह से प्रशंसनीय है। यह अफसोस की बात है कि दिगम्बरी लोग ही दिगम्बर जैन धर्म को सर्वनाश की ओर ले जा रहे हैं। जो रक्षणीय हैं वे ही भक्षणीय हो जाँय तो धर्म कैसे टिक सकता है ?

श्री ईश्वरचन्द्र (रिटायर्ड I.A.S.), इन्दौर

अनुत्तर-योगी पर आपके विचारों में सहमति की नही, सिद्धान्त रक्षण की बात है। विचारणीय बात है कि इस प्रकार भ्रम फैलाने वाले तथ्य किस उद्देश्य से दिए जा रहे हैं ? दिगम्बर जैन समिति तथा प्रकाशकों के साथ-साथ विद्वानों एवं समाज के कर्णधारो से इन मान्यताओं के बारे मे विरुद्ध-अशों को परिष्कार करवा कर छपवाना चाहिए। आप जैन-सिद्धान्तो के प्रति जितनी जागरूकता का परिचय दे रहे है वह प्रशसनीय है।

डॉ० भागचन्द भागेन्दु, दमोह :

अनुत्तर-योगी के सम्बन्ध में आपने गहन-गम्भीर अध्ययन अनुशीलन परक तथ्य उजागर किए हैं।

श्री ताराचन्द्र प्रेमी (महामंत्री भा० दि० जैन संघ) :

अनुत्तर-योगी का प्रकाशन दिगम्बर समाज के लिए कोई अच्छी बात नहीं है।

श्री पं० मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर' :

'स्व० मुख्तार साहब' ने वीर सेवा मन्दिर की स्थापना कर जैन साहित्य का प्रचार व प्रसार किया उसी सस्था से आज जैन साहित्य की रक्षा का प्रयत्न किया जाना संस्था की सफलता का शुभचिह्न है। 'अनुत्तर-योगी' पुस्तक—'विषकुम्भ पयोमुखं वत्' है—हेय है। इसका प्रचार रोकने मे ही हित है।

डा० राजाराम जैन आरा :

'अनुत्तरयोगी' भले ही साहित्यिक शैली एव नवीन विधाओं की दृष्टि से प्रशंसनीय हो किन्तु जब उसे आर्ष परम्परा एवं दि० जैन सिद्धान्त की मूल परम्परा की कसौटी पर कसते हैं तो वह दिगम्बरत्व के भयानक भविष्य की भूमिका ही प्रतीत होता है। शाब्दिक कलाबाजियों से मंत्रमुग्ध पाठकों को सही दिशा दान और दिगम्बरत्व की सुरक्षा नितान्त आवश्यक है। दि० जैन समाज के द्रव्य से दिगम्बर जैन सिद्धान्त पर ही कुठाराघात हो इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। दि० समाज को इससे सचेत होना चाहिए।

□□

दिगम्बर-परम्परा में

स्त्री-मुक्ति-निषेध :—

(क) "मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति।" स्त्रीणां मायाबाहुल्यमस्ति सचेलसंयमत्वाच्च न स्त्रीणा संयमः मोक्षहेतुः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्वाच्च न स्त्रियो मोक्षहेतुसंयमवत्यः। नास्ति स्त्रीणा मोक्ष. उत्कृष्टध्यानविकलत्वात्॥"

—प्रमेयकमल मार्तण्ड २/३२८-३३४

(ख) 'कर्मभूद्रव्यनारीणा नाद्य सहननत्रयम्।
वस्त्रादानाच्चरित्रं च तासा मुक्तिकथावृथा॥"

—चा० सार २।८६

—कर्मभूमिगत द्रव्य स्त्रियो के प्रथम तीन सहनन नही होते। और वे सवस्त्र भी होती है? अत. स्त्रियों को मुक्ति प्राप्ति की बात नही बनती।

(ग) जदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता।
घोर चरदि य चरिय इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिया॥

—प्र० सा०। प्रक्षे०।

(घ) 'बहुरि स्त्री को मोक्ष कहै सो जाकरि सप्तम नरक गमन योग्य पाप न होय सकै, ताकरि मोक्ष का कारण शुद्धभाव कैसे होय? जातै जाके भाव दृढ़ होय, सो ही उत्कृष्ट पाप वा धर्म उपजाय सकै है। बहुरि स्त्री के निशंक एकान्तविषैं ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादि का त्याग करना संभवै नाही।'

—मो० मा० प्रकाश पृ० २१४

नवधा भक्ति का विधान :—

(क) 'जो नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध हो, ब्यालीस दोषों से रहित हो, विधि से अर्थात् नवधाभक्ति, दाता के सात गुण सहित क्रिया से दिया गया हो, ऐसा भोजन साधु गृहण करे।'

मूलाचार गा० ४८२-४८३

(ख) 'बहुरि काहू का आहार देने का परिणाम न था, यानै वाका घर मे जाय याचना करी। तहा वाकै सकुचता भया वा न दिए लोकनिंद्य होने का भय भया तातै वाको आहार दिया। सो वा का अतरग प्राण-पीडातै हिंसा का सद्भाव आया।'

'बहुरि अपने कार्य के अर्थि याचनारूप वचन है सो पापरूप है। सो यहाँ असत्य वचन भी भया। बहुरि वाकै देने की इच्छा न थी, यानै याच्या, तब वानै अपनी इच्छा तै दिया नाही—सकुचिकरि दिया। तातै अदत्त ग्रहण भी भया।'

—मो० मा० प्र० पृ० २२८

केवली उपसर्ग निषेध :

(क) जोयण सदमज्जाद सुभिक्खदा चउदिसासु णियराणा।
णहगमणाणमहिंसा भोयण उवसग्गपरिहीणा॥'

—ति० प० ४।८९९

—केवली के दश अतिशयों मे अदया, भोजन और उपसर्ग इन तीनो का न होना भी सम्मिलित है—केवली को उपसर्ग नही होता।

(ख) "अर कहै, काहू नै तेजोलेश्या छोरी ताकरि वर्धमान स्वामी कै पेचिस का रोग भया, सो केवली अतिशय न भया तो इन्द्रादि कर पूज्यपना कैसे शोभै?"

मो० मा० प्र० पृ० २२१

□□

कारवां लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे ?

पाठकों ने देखा—'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' कृति का विज्ञापन। 'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र में उपन्यास।' यह साधा गया एक ऐसा जहरीला तीर है, जिससे एक साथ जिनवाणी को दूषित करने और गुरु की प्रतिष्ठा लूटने जैसे दो निशाने साधे गए हैं। जहाँ इससे वीतरागी सिद्धान्तों को सरागी जामा पहिनाया गया है वहीं उपन्यास में शास्त्र जैसी प्रामाणिकता लाने के लिए दिगम्बर मुनि द्वारा समर्थित बताया गया है। और ये सब किया गया है—नवीनता लाने, नाम पाने और न जाने किन-किन योजनाओं की आड़ मे। इसे कहते हैं—'एक तीर से दो शिकार करना' और ये सब किया जा रहा है हमारे खड़े-खड़े देखते हुए और हम हैं कि कुछ कर नही पा रहे—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

ऐसा क्यों? इसलिए, कि लूट के समय सब अपना-अपना देखते हैं; आपा धापी मे दूसरों का ख्याल कोई नही करता। सो आज लूट हो रही है—उपाधियों की, नाम की और धन की। जिसे जिधर से जो मिलता है वह उसी के सग्रह में मग्न रहता है उसी को लूट लेता है बिना किसी की परवाह किए, मौन।

गत दिनों एक सस्था ने उपाधियों का वितरण किया। हमने संस्था को पत्र लिखा। हमें खुशी हुई कि देश में एक ऐसी संस्था का जन्म हुआ, जिसने खोई प्रतिष्ठा को जीवित करके धर्म-धुरन्धर और ज्ञान-गरिमा को सार्थक करने वाली कुछ उपाधियाँ देने का श्रीगणेश किया है। हमने जानना चाहा कि उन पदवियों के लिए कौन सी योग्यता और किस कोर्स की पूर्ति आवश्यक है?—कृपया लिखें। पर, काफी दिनों के बीतने पर भी उत्तर न मिला। बाद को मालूम हुआ कि वह लूट थी—यश के लिए, नाम के लिए और अर्थ के लिए सो, सबने अपना-अपना स्वार्थ साधा और कार्य आगे बढ़ गया।

ऐसे ही विपर्यास मेटने के लिए हमने भारतवर्षीय कई दिगम्बर सस्थाओं को पत्र लिखे—कि कुछ करेंगे। पर होना वा पत्र का उत्तर दर-किनार, यहां तक कि पत्र की पहुंच भी हमें नही मिली। हमने सिर धुना कुछ आल इण्डिया सभाओं की कार्य-व्यवस्था पर: जहां मालिक कई पर कार्यकर्ता कोई नहीं—सब मौन, एक-दूसरे का मुह देखने वाले हैं। ऐसे मे फिर वही दुहराना पड़ा—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

—संपादक 'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-२

'बहुगुणविज्जाणिलओ असुत्त भासी तहवि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु विग्घयरो विसहरो लोए॥'

बहु-गुण और विद्या का स्थान (विद्वान्) यदि आगम के विरुद्ध कथन करने वाला हो तो उसे भी छोड़ देना चाहिए। जैसे उत्तम मणि के धारक सर्प को लोक में विघ्न-कारण जानकर छोड़ दिया जाता है।

संस्मरणों के आधार पर

अभी दो दिन पूर्व हिमालय—बद्रीधाम-यात्रा की चौदहवीं जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष की भांति जब हम **'हिमालय में दिगम्बर मुनि'** पढ़ रहे थे—दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि के प्रति हमारी अन्तस्श्रद्धा वचनद्वार फूट पड़ी—धन्य हैं दिगम्बर साधु और उनकी चर्या।

अपनी ऐतिहासिक हिमालय-यात्रा के मध्य दि० मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज ने दिगंबरचर्या को निभाया और बद्रीनाथ की ज्ञान-संवर्धिनी-सभा में प्रवचन करते हुए कहा—

"लोग हमसे पूछते हैं—आप नग्न क्यों रहते हैं? संकटों को निमंत्रण क्यों देते हैं? आदि। हम उन्हें क्या उत्तर दें? हम तो वही कह देते हैं, जो हमारे पूर्वाचार्यों ने कहा है—

'अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःख सन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥'

उन्होंने कहा—दुख-सुख की महिमा क्या कहें? ये तो कर्म-जनित व्याधियां हैं, कोई उन्हें उत्पन्न या नष्ट नही कर सकता। इन्हें तो जीव अपने सम्यग्ज्ञान से स्वयं ही दूर कर सकता है।' उन्होने दृष्टान्त भी दिया—

'पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्रष्टासृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याट् जगती—
महो! केनाप्यास्मिन् विलसितमलंघ्य हतविधेः॥'
—आत्मानुशासन॥'

—अहो, जिन्हें पूर्वसमय मे गर्भकाल से ही इन्द्र भृत्यवत् अंजलिबद्ध होकर सेवा करता था, स्वय जो कर्मभूमि के स्रष्टा थे, जिनका पुत्र भरत चक्रवर्ती षट्खंडाधिपति था—वह पुरु (आदि) देव तीर्थंकर वृषभदेव षण्मासावधि क्षुधित होकर पृथ्वी पर विहार करते रहे। इस दुष्ट कर्मगति का उल्लंघन कर पाना किसी के लिए भी दुष्कर है।"— पृष्ठ ५४-५५

उक्त श्लोक मुनिश्री को अत्यन्त प्रिय है और वे प्रायः पढ़ा करते हैं। उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनि (तीर्थंकर ऋषभदेव की भांति) विधि-विधान, नवधा भक्ति आदि के योग मिले बिना आहार नहीं लेते। मुनिश्री ने स्वयं हिमालय जैसे बीहड़ पर्वत की यात्रा प्रसंग में भी इस विधि का पूर्ण निर्वाह किया और आज भी सब दिगम्बर मुनि इसी विधि को अपनाए हुए हैं। इतना ही क्यों? साधारण संहननधारी मुनि श्री विद्यानन्द जी ने बर्फ के बीच रहते हुए शीत परीषह पर विजय पाई और हिमालय से नीचे उतरते समय जब रुद्रप्रयाग में उन्हें उष्ण की बाधा हुई—उनकी पेशाब में खून आने लगा तब भी उन्होंने पूर्ण धैर्य का परिचय दिया—न मुख से चीख निकाली और न ही किसी वैद्य से उपचार की कल्पना की। पर, आज कैसी विडम्बना है कि लोग उत्तम संहनन धारी दि० महावीर में उक्त बातों की कल्पना कर रहे हैं, नवधाभक्ति बिना उनके आहार लेने और कष्ट मे उनकी चीख निकलने तथा खरक वैद्य से उनके इलाज की पुष्टि कर रहे हैं और इस सब मे दि० मुनिश्री के समर्थन का नाम ले रहे हैं।

दिगम्बर वेष, दि०चर्या और दिगम्बरत्व के भाव में मुनि श्री के द्वारा, बद्रीनाथ मन्दिर के पीठासन से, और अन्य सभाओ के माध्यम से दिगम्बरत्व की जैसी प्रभावना हुई उसका प्रमाण वहाँ के जैनेतर सम्प्रदाय के शब्दों में भी जाना जा सकता है। जैसे—

'भारत पर जैन तीर्थंकरों व श्रमण दिगम्बर मुनियों की सदा कृपा रही है—वे सदा ही सन्मार्ग का उपदेश देते रहे हैं, आदि।' —श्री सत्यनारायण शास्त्री, बाबुलकर

हम निवेदन करें कि हमने वर्षों मुनिश्री के पादमूल में सीखा है।' दिगम्बरत्व और उक्त चर्या आदि के प्रति उनके समर्पण भाव को हमने उन पुरुषो से कही अधिक जाना है, जो यदा-कदा उनके पास आते-जाते हो और उनकी मनोभावना को जानने का दावा करते हों या यद्वा-तद्वा लिख उनको मोहर लगाते हो। ऐसे पुरुषो को सावधान होना चाहिए कि कहीं उनके कु-प्रयासो से जिनवाणी और दिगम्बर मुनि का अपवाद न हो जाय। स्मरण रहे—**दिगम्बर-सिद्धांत-प्रभावक साधु बड़े भाग्य से हाथ आते हैं, फलतः—दिगम्बरत्व की पुष्टि में ही दिगम्बर का उपयोग होना चाहिए।**

४-६-८४ **—पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली**

वर्धमान भक्तामर

रचयिता—श्री मूलचन्द्र जैन शास्त्री,

जो भक्त सुर वर मुकुट मणिगणमय सरोवर में खिले,
उन मणिगणों की ज्योतिरूपी सलिल से हैं जो रले।
जो भव्यजन चितमधुपकर्षी कंज जैसे हैं बनें,
श्री वर्धमान जिनेश के वे चरण चित में नित सनें ॥१॥

आनन्द के नन्दन निराले सुख जनक तेरे विभो !
ये शिव विधायक चरणयुग सद्भाव कारक हैं विभो !
हैं पोत सम भवसिन्धु में गुणपुंज युत यो ऋषि कहें,
हे नाथ ! तेरे ये चरण मुझ को शरण नित ही रहें ॥२॥
(मुझ पतित को पावन करें)

जो सिद्ध औषध सम सकल ही सिद्धियों के धाम हैं,
औ पूर्ण विकसित आत्मगुण से जो महा अभिराम हैं।
जो ज्ञानमय शिवमय सतत संपन्न उत्तम धाम हैं,
वे वीर हैं, हैं ध्येय वे ही क्योंकि वे निष्काम हैं ॥३॥

बालक विवेक विहीन भी निज लड़कपन से चाहता,
मैं नाप लूं आकाश को ऐसा मनोरथ बांधता।
मैं भी दयासागर ! तुम्हारे निकट वैसा हूं खरा,
ज्ञानादि संख्यातीत गुण गण गान में आग्रह भरा ॥४॥

जड़लोह यदि पारस परसकर कनक बनता पलक में,
है कौन सी अचरज भरी यह बात स्वामिन् ! खलक में।
आश्चर्य है तो एक यह जो दूर से भी ध्यान से,
ध्याता तुम्हें वह नाथ ! बन जाता तुम्हीं सा ज्ञान से ॥५॥

कुन्देन्दुहार समान अति रमणीय गुणगण की कथा,
है नाथ ! कौन समर्थ जग में कह सके जो सर्वथा।
है कौन ऐसा जन जगत की जीवराशि गिन सके,
छद्मस्थ की तो क्या कथा भगवान भी नहीं कह सके ॥६॥

मुनिनाथ ! हूं असमर्थ फिर भी तव गुणों के गान में,
जैसे बनेगा मैं करूंगा यत्न अपनी जान में।
लज्जा नहीं इसमें मुझे यह बात जग विख्यात है,
खगराजगत क्या मार्ग से नहिं जात पक्षी जात है ॥७॥

तेरे वचनपीयूष रस की सुरुचि ही बस ! प्रेरती,
बल से मुझे तव गुण कथा के कथन में है घेरती।
जो तरल लहरों से क्षुभित बन उदधि बढ़ता पर्व में,
है हेतु चन्द्रोदय नियम से नाथ ! उसके गर्भ में ॥८॥

अज्ञान-मोह समूह भगवन् ! हृदय में मेरे घुसा,
उसको हटाने के लिए है शक्त तव प्रवचन उषा।
जो कन्दरा में तिमिर चिरतर सुथिर बनकर रह रहा,
उसको हटा सकती वहाँ से एक उज्ज्वल ही प्रभा ॥९॥

हे बोधि दायक ! नाथ ! मेरी यदपि वाणी हीन है,
जो नय प्रमाण सुरीति-गुणभूषण विहीन मलीन है।
तो भी भुवन में तव कथा से रम्य वह होगी तथा,
जल बिन्दु शुक्ति प्रसंग से बन मोति मन हरती यथा ॥१०॥

हे नाथ ! चित से भी अगम्य भले—रहे त गुण कथा,
इक नाम भी तेरा जगाता भक्ति तुम में सर्वथा।
हो दूरतर जंबीर पर यह बात जग अनुभवित है,
जो नाम भी उसका बनाता सरस रसना द्रवित है ॥११॥

ज्यों विविध मणि गण प्रचुर कांचन रजत रत्नों से भरे,
भंडार को देता जनक सुत को विनय गुण से भरे।
जिनदेव ! त्यों तव ध्यान भी देता अचल पद को खरा,
ध्यानकर्त्ता के लिए अक्षीण सुख से जो भरा ॥१२॥

ज्ञानादि गुण गौरव भरे तुम नाथ ! अनुपम सिन्धु हो,
अशरण जनों के नाथ ! तुम ही बिना कारण बन्धु हो।
ऐसे तुम्हें तज और की जो शरण लेना चित धरे,
वह तीन जग का राज्य तज जड़ भृत्यता स्वीकृत करे ॥१३॥

हे नाथ ! वे परमाणु भी जिनसे बना तव गात है,
थे लोक में उतने, न थे वे अधिक यह जग ख्यात है।
तेरे चरण की शरण पा यदि मनुज बनता सिद्ध है,
है कौन सा अचरज, निमित्ताधीन कार्य प्रसिद्ध है ॥१४॥

मुखचन्द्र नाथ ! अपूर्व तेरा सकल मंगल मोद का,
है कंद, वाणी-सुधाधारा का सुझरना लोक का।
संतापहारी, स्वर्गमोक्ष प्रदानकारी, बोध का,
दाता उदित नित लख मुदित मन होत भविक चकोर का ॥१५॥

जो भूल से भी उच्चरित तव भद्रकारी नाम भी,
होता सुकृत का जनक स्वामिन् ! सिद्धि का सद्धाम भी।

अज्ञान से भी मुखपतित सितखंड का भी खंड है,
विख्यात जग में बात यह माधुर्य देत अखण्ड है ।।१६।।
जो पाद पङ्कज में तिहारे नम्र करता माथ है,
वह ऋद्धि-सिद्धि समूह से सर्वत्र होत सनाथ है।
फिर तीर्थंकर बनकर जगत् का तिलक होता है वही,
पश्चात् अव्याबाध सुखमय धाम में जाता सही ।।१७।।
ज्यों काल का दिनरात आदि विभाग रविविधु निमित है,
दो पंख से ही गगन में खेचर गमन जग विदित है।
त्यों आपने भी जगत जन को यह जताया नाथ ! है,
ज्ञान क्रिया के ऐक्य से ही मुक्ति देती हाथ है ।।१८।।
हे नाथ ! जीवन में अनोखे सार का कारण महा,
पीया गया पीयूष पर वह देह का रक्षक कहा।
स्याद्वाद से भूषित तिहारी देव ! निर्मल भारती,
निज सेवकों को मुक्ति देती हरण कर सब आरती ।।१९।।
षट् खंड-मंडित भुवन मंडल को विभो ! चक्री यथा,
करके विजित निज चक्र से शासित उसे करता, तथा।
मुनिनाथ ! तुमने भी जगत में जैन शासनरत किया,
भविवृन्द को मिथ्यात्व हर नयचक्र से वश कर लिया ।।२०।।
मिथ्यात्व रूपी दोष यह चिरकाल से पीछे पड़ा,
यह है विषमतर भव भ्रमण का हेतु जहरीला बड़ा।
यह नाथ ! हरभव में निरन्तर ताप देता उग रहा,
आमूल इसका नाश करता तेज जो तुम में भरा ।।२१।।
जो जन प्रमादी विषम मोह अधीन कृत्य विहीन हैं,
विषयाभिलाषी दुर्जनों के संग में नित लीन हैं।
हैं जो विवेक विहीन विषया संग से मतिलीन हैं,
लाता सुपथ पर उन्हें तेरा तेज जो गमगीन है ।।२२।।
ज्ञानादि गुण तेरे अनंते कल्पवृक्ष समान हैं,
हैं रत्न चिन्तामणि सदृश देते किमिच्छिक दान हैं।
हैं चन्द्रसम उज्ज्वल करें वे जगत जन मन को विभो !
है कौन ऐसा भव्यजन जो याद कर पुलकित न हो ।।२३।।
हे नाथ ! चिन्तामणि सुरद्रुम और नवनिधियां महा,
उनसे मिले जो सौख्य जनको वह क्षणिक नश्वर कहा।
जो आपके सेवक मनुज ध्रुव नित्य सुख भुगते यहां,
इन सब सुखों से भी अनंता सौख्य भुगतो तुम वहां ।।२४।।

रवि किरण मण्डल के निकट ज्यों तिमिर डट सकता नहीं,
चिन्तामणि के सामने ज्यों दुःख टिक सकता नहीं।
त्यों नाथ ! तेरे निकट हिंसादिक फटक सकते नहीं।
ये दोष हैं निर्दोष तुम हो यह विदित हैं सब कहीं ॥२५॥

जो इन्दु मंडल सा सलिल सा सुधाफेन सुपुञ्ज सा,
विकसित मनोरथ पुष्प का जो एक विस्तृत कुंज सा।
है, नाथ ! ऐसे धर्म का तुमने निरूपण है किया।
होता भविकजन कमल का विकसित प्रभो ! सुन कर हिया ॥२६॥

अति दूर से भी चन्द्र ज्यों निज किरण के उत्कर्ष से,
करता सदा कैरव बनी को युक्त अतिशय हर्ष से।
जिननाथ ! वैसे हो तुम्हारा कर रहा गुणवृन्द है,
सब भक्त जनता के हृदय सदा अति आनंद है ॥२७॥

जिनवर ! सुधाकर किरण का संयोग पाकर, सर्वथा,
होता द्रवित जग में विदित यह चंद्रकान्त मणि यथा।
वैसे तिहारी परम महिमोपेत करुणारस भरी,
पावन कथा का श्रवण कर होते द्रवित हैं क्रूर भी ॥२७॥

शिवमार्ग से वंचित, दुखों की खान यह कलिकाल है,
है हीयमान सदा विषय के जाल से विकराल है।
इसमें तिहारी शिव विधायक देशना के पान से,
पाते भविक जन शुद्ध आत्मिक शान्ति बच दुर्ध्यान से ॥२८॥

गुणगणसदन ! मुनिवर रमण ! जिनवर ! जगतरक्षक ! विभो !
देवाधिदेव ! विमुक्तिस्वामिन ! भविकनाथ ! सुनो प्रभो ! ।
करके कृपा हमको जगाओ ज्ञान के उत्कर्ष से,
क्या दूर से भी विधु न करता कुमुद को युत हर्ष से ॥२९॥

पा जब सहारा आपका प्रभु ! शोक विन तरु भी हुआ,
जग में इसी से ख्यात नाम "अशोक" यों उसका हुआ।
तब क्या तुम्हारे चरण के अवलम्ब से भविजन नहीं,
निःशोक हो सकते खपा विधि भले वे होवें कहीं ॥३०॥

मणिमय सिंहासन पर चमकते नाथ ! तुमको देखकर,
देवश्वर हो चकित चित यों चितते हैं विश्वर।
यह इन्दु है क्या ? नहिं, अरे ! वह मृग कलंकित गात है,
तो सूर्य है क्या ? नहिं भला वह तो प्रचण्ड प्रताप है ॥ ३१॥

है कान्ति का यह पुंज प्यारा प्रथम तो माना यही,
फिर व्यक्त आकृति मात्र से सामान्य जन माना सही।

जाना पुनः कोई प्रशम रस सहित सुन्दर मनुज है,
फिर बाद में जाना तुम्हें सिद्धार्थ का यह तनुज है ॥३२॥
सुरवृन्द ने जब नाथ बरसा अचित पुष्पों की करी,
चारों दिशाएं बनी सुरभित खिज उठी पूरी मही।
स्याद्वाद सुन्दर वचन रचना की झरी इकदम लगी,
जनता मुदित मन हो तुरत जय घोष कर नचने लगी ॥३२॥
हे नाथ! तेरी वह अलौकिक देशना जगहित खिरी,
पीयूष सी परिणत हुई सब जीव भाषा में ढरी।
सब ऋद्धि सिद्धि तथा गुणों की बृद्धिकर्ता वह बनी,
हे वीर! सगरी पीर हर निज भक्त शिवदाता बनी ॥३३॥
गोदुग्ध-जल-शशि-कुन्द-हिम-मणिहार-सम उज्ज्वल सही,
चामर गगन तल लसित मानों प्रकट करते हैं यही।
है ध्यान इस ही प्रभु का सित कोई न ऐसा देव है,
सर्वज्ञ है यह, यही नाशक कर्म का स्वयमेव है ॥३४॥
आकर अवनि पर अमरपति ने तथा मुनिपति ने प्रभो!
संस्तुति करी निजशक्ति भर तव प्रभा मंडल की विभो!
उस मोह तिमिर विनाशकारक दीप्तिमंडल के निकट,
बस ध्वान्तनाशक सूर्य की समता न घटतीं, रंचभर ॥३५॥
यह जिन विकट विधि वृन्द भट का है विजेता एक ही।
अतिशय बली तीनों भुवन का नाथ है यह एक ही।
बस इसलिए हे भव्य! तुम आओ इसी के मार्ग में,
बजता सुनाता घोषणा यह दुन्दुभी नभ मार्ग में ॥३६॥
जो है सकल मंगल विधाता मोद का जो स्थान है,
जिसकी विमल आभा निरख शारद शशी भी म्लान है।
ऐसा तिहारा नाथ! छत्रत्रय जताता है यही,
कल्याण कारक रत्नत्रय प्रभुपद प्रदाता है सही ॥३७॥
हे नाथ! ऐसा ही अनोखा आपमें अतिशय भरा,
जो पाद पंकज की तरे की विषम सम बनती धरा।
फूलें फलें सब साथ ऋतुएं सुखी भी सब जन बनें,
इससे तिहारे पाद रज को कल्पतरु ही हम गिनें ॥३८॥
है दिव्यवाणी नाथ! तेरी सद्गुणावलि दिव्य है,
है दिव्ययश, है दिव्य समता और प्रभुता दिव्य है।
समता त्रिजग में इन गुणों की कहीं भी मिलती नहीं,
रवि सी चमक होती नहीं तारागणों में सच कहीं ॥३९॥
तब दिव्य-महिमा निरखकर सुर असुर किन्नर नर सभी,
हे नाथ! तेरी भारती पीयूष सी पीते जभी।

आनंद-सागर में नहावे गुण कथा के कथन में,
असमर्थ हो बस ! भक्तिवश नमते तिहारे चरण में ॥४०॥
तुम हो सकल मंगल विधायक इसलिए तुमको नमूं,
तुम हो सकल शान्ति प्रदायक इसलिए तुमको नमूं।
तुम हो सकल कर्मारि नाशक इसलिए तुमको नमूं।
तुम हो सकल तत्त्वोपदेशक इसलिए तुमको नमूं ॥४१॥
तुम हो सकल जग जीव रक्षक इसलिए तुमको नमूं,
तुम हो सकल शासन प्रभावक इसलिए तुमको नमूं।
तुम हो सकल जग हित विधायक इसलिए तुमको नमूं,
तुम हो सकल निर्मल गुणाकर इसलिए तुमको नमूं ॥४२॥
जो निर्दयी राक्षस पिशाचों से प्रभो ! हा ! विहित हैं,
उपसर्ग-अथवा दुराचारी खलों से जो प्रकृत हैं।
आक्रमण दुःख दरिद्र शत के जाल से जो सृष्ट है,
वे कष्ट सब तव तेज से प्रभु ! शीघ्र होते नष्ट हैं ॥४३॥
सब रिद्धि सिद्धि वर प्रदायक विमल यह स्तवराज हैं,
श्री वीर जिनवर देव का जो पढ़े जन निर्व्याज है।
सुरवृक्ष चिन्तामणि निकट सर्वार्थ सिद्धि सभी सदा,
सेवा तथा अनुकूल करने के लिए आते मुद ॥४४॥
जो चोर रिपु शार्दूल पन्नग गज दवानल से डटी,
जो हिंस्र गमनागमन से खल बंधनों से है पटी।
बस इसी से प्रभुवर ! जहां की भूमि दुर्गम है बनी,
तव ध्यान से ऐसी बनी बनती बना सो सुखदना ॥४५॥
शार्दूल पन्नग प्रखर शूकर हिंस्र जीवो से घिरी,
चोरो नुकीले कण्टका से हा ! बनी जो है भरी।
हे नाथ ! तेरे स्मरण से वह बने नन्दनवन जिसी,
आनंद की लहरें बहें यों भक्तजन कहते ऋषी ॥४६॥
जो अति भयानक महादुर्गम सुभट से अति विकट है,
अति कष्टप्रद बलभ्रष्ट जिसमें मृत्यु भी अति निकट है।
जो विविध दुखशत से भरा बहती जहां सृग्धार है,
उस युद्ध में तव नाम देता नाथ ! शांति अपार है ॥४७॥
नाथ ! आपके गुण पुष्पों की, यह सुरम्य संस्तुति-माला।
मैंने रची गूंथकर रुचि से, पहिनेगा जो कोई लाला।
चमकेगा वह उजियाला बन जगमें, जग उसका होगा।
होगा उसका ठाठ निराला, "मूल" चंद्र जैसा होगा ॥४८॥

—:०:— (मालथोन नि०) श्री महावीर प्रवासी

साहित्य-समीक्षा

जैन-सिद्धांत :

लेखक : सिद्धांताचार्य पं० श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री :
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
साइज · १८×२२×१६, पृष्ठ २२०, मूल्य : २० रुपये।

श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री जैन-सिद्धांत के अथाह मधुर सागर हैं। प्रस्तुत कृति जैन सिद्धान्तगत विषयो का सार-पूर्ण विवेचन है। प्रकाशक के सही शब्दो मे जिसे पडित जी ने चार अनुयोग, द्रव्य गुण-पर्याय, स्याद्वाद-नयवाद, कार्यकारण विचार, जीव-आत्मा, गुणस्थान, मार्गणाए, पुण्य-पाप, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध, सिद्धांत एव अध्यात्म का विषयभेद आदि द्वारो से अपनी शैली में सजोया है।

नि:सन्देह, जैन-सिद्धात एव अध्यात्म जितना कठिन है उतना ही वह सरल भी है। पारगत, अनुभवी और ग्राहक की नाड़ी की परख-वाला प्रयोक्ता कठिन से कठिन विषय को सरल बना देता है। पंडित जी ने अनेकानेक रूपों में अनेकानेक विषय धार्मिक क्षेत्र में प्रस्तुत किए हैं और सभी सफल रहे हैं। प्रस्तुत कृति भी जिज्ञासुओं की पिपासा को सहज ही शान्त करने में समर्थ होगी—ऐसा हम मानते हैं। ग्रन्थ की छपाई आदि ज्ञानपीठ के सर्वथा अनुरूप है : बधाई।

जैन तत्त्व ज्ञान मीमांसा :

लेखक : डा० दरबारी लाल कोठिया
प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्रकाशन, वाराणसी
साइज : २०×३०×८ पृष्ठ : ३७४, मूल्य : ५० रु०

प्रस्तुत सग्रह, जैन-न्याय-दर्शन के ख्यात विद्वान डा० कोठिया जी के उन लेखों का सग्रह है जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। इसमे धर्म, दर्शन, न्याय, इतिहास, साहित्य एवं तीर्थों, पर्वों, विविध सन्तों, विद्वानो के परिचय, श्रुत पंचमी, जम्बू जिनाष्टक आदि जैसे विषय गर्भित हैं। निबन्धों की संख्या ७० है। पुण्य-पाप का शास्त्रीय दृष्टिकोण, जीवन में संयम एव चारित्र का महत्व, महावीर धर्म में क्षमा आदि प्रसंग साधारण पाठको को सरलता से समझ मे आ सकते हैं। पूर्वाचार्यों—समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ आदि के संबंध में गहरी जानकारी दी गई है, जो उपयोगी हैं। बिखरे लेखों के एकत्र-सग्रह ने पाठकों की सुविधा बढ़ा दी है अब उन्हे कोठिया जी के विचारों को जानने के लिए पत्र-पत्रिकाओ की पुरानी फाइले बिना खोजे ही सभी सामग्री सुलभ होगी। ग्रन्थ संग्रहणीय है। प्रकाशन आदि उत्तम है। लेखक-प्रकाशक सभी सम्मानार्ह हैं।

एकार्थक कोश व निरुक्त कोश : (दो कोश)

वाचना प्रमुख : आचार्य श्री तुलसी
प्रधान सपादक : युवाचार्य महाप्रज्ञ
सम्पादक : विभिन्न साध्वियाँ—
समणी कुसुम प्रज्ञा, साध्वी-सिद्धप्रज्ञा,
साध्वी निर्वाणश्री
प्रकाशक . जैन विश्व भारती, लाडनू
साईज : २३×३६×१६ पृष्ठ क्रमश : ३६६ : ३७०। मूल्य : ५० व ४० रुपए।

सन् १६७६ की बात होगी—पचकूला मे डा० नथमल टाटिया का सकल्प उन्ही से सुना था कि वे जैन-शब्दकोश के निर्माण के प्रति समर्पित रहना चाहते हैं और ऐसा कार्य करना चाहते हैं कि श्वेताम्बर जगत के आगम-ज्ञान की प्यास से कोई प्यासा न रहे और जैन श्वेताम्बर आगमों को सभी सरलता से समझ सकें। हमें खुशी है कि आज उस संकल्प का प्रारम्भिक कार्य लाडनूं से साधु-साध्वियों के द्वारा प्रकाश में आया और डा० टांटिया के पुरोवचन-प्राक्कथन के साथ उसका श्रीगणेश हुआ।

श्वेताम्बर आगम-साहित्य के प्रकाशन में जैन विश्व भारती का पूर्ण प्रयास है। वहां के साधु-साध्वीगण इस

(शेष पृ० आ० ३ पर)

(ताकि सनद रहे……) :

श्री धर्मचन्द्र शास्त्री, आ० धर्मसागर महाराज, संघस्थ

१०००-५०० वर्ष बाद जब अनुत्तर-योगी के विसंगत प्रसंग उभर कर सामने आएंगे तब उनका प्रतिवाद न हो सकेगा और अभियोग में निश्चय ही दिगम्बरत्व की पराजय होगी और उस पराजय में कारण होगा—दिगम्बर क्षेत्र में दिगम्बर-प्रेरित दिगम्बर-लिखित दिगम्बर समिति द्वारा प्रकाशित "अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर" उपन्यास। जो सभी कोर्टों में पेश होकर श्वेताम्बर मान्यताओं को पुष्ट कर रहा होगा और तब दि० जैन धर्म संरक्षिणी सभाएं और दि० तीर्थ-रक्षक कमेटियां जैसी संस्थाएं और उनके पद-धर, कर्णधार सिर धुन रहे होंगे और श्री कुन्दनलाल जैन की अन्तर्वेदनाएं सही सिद्ध हो रही होंगी। × × ×

MESSAGE OF
JAINA YOGI SWASTI SRI BHATTARAKA
CHARUKIRTI PANDITACHARYA SWAMIJI
MOODBIDRI.

"WE FIND YOUR ARTICLE IS A GOOD PIECE OF REBUTTAL. YOU DESERVE CONGRATULATIONS OF ONE AND ALL OF JAIN SAMAJ FOR YOUR FREE FRANK AND FEARLESS REMARKS IN YOUR ARTICLE. PEOPLE OF YOUR CALIBRE SHOULD COME FORWARD WHEREVER THERE IS A THREAT TO REALITY–SADDHARMA. YOUR ACTION IS WELL-TIMED AND TESTED.

"BHADRAM BHUYAT, VARDHTAM JIN SHASNAM

WITH BEST OF BLESSINGS."

13-6-84

(पृ० ३२ का शेषांश)

ओर दत्त-चित्त हैं, कई प्रकाशन हो चुके हैं। प्रस्तुत कोश ग्रन्थ से आगम-ज्ञान के मार्ग प्रशस्त होंगे और जिज्ञासु अनेकों शब्दों के अनेकों अर्थों को अनेकों भांति हृदयगम कर सकेंगे। जैसे—मंगिज्जएऽधिगम्मइ जेण हिअं तेण मंगलं होइ। अहवा मंगो धम्मो तं लाइ तयं समादत्ते। मंगालयइ भवाओ मंगलमिहेवमाइ नेरुत्ता। मङ्ग्यते अनेन मण्यते वाऽनेनेति मंगलं। मागलो भूदिति मंगलं। माद्यन्ति हृष्यन्ति अनेनेति मंगलं। इत्यादि।

हम लेखकों, संयोजकों और प्रकाशकों का अभिनन्दन करते हैं जो उन्होंने उत्तम कृति को उत्तम रूप में संजोकर, छपाकर सजिल्द हमें प्राप्त कराया। धन्यवाद।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१५.००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	७-००
कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००
Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन	१५-००
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set	600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८४

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	सुप्रभात स्तोत्रम्	१
२.	देवदास नामक दो कवियों के भिन्न-भिन्न हनुमान चरित्र—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	२
३.	प्रथम प्राणी-विज्ञान विशेषज्ञ० हंसदेव —श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	४
४	भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव —पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती जी	८
५.	संस्कृत त्रि-सन्धान पूजा —श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी	१२
६.	आत्म अनुभव कैसे हो—श्री बाबूलाल जैन वक्ता	१६
७.	शाहनामा-ए-हिन्द में जैनधर्म —शायर फरोग नक्काश	१८
८.	राजस्थान के मध्यकालीन जैन गद्य लेखक —श्री रीता जैन, अलवर	२०
९.	जैनकला और स्थापत्य में भ० पार्श्वनाथ —श्री नरेन्द्रकुमार सोरया एम० ए०	२१
१०.	विचारणीय प्रसंग—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	२३
११.	जरा-सोचिए—सपादक	२६
१२.	दिल्ली से श्री महावीर जी (पदयात्रा)	आवरण ३

नोट—अनिवार्य कारणों से इस अंक में विलंब हुआ : पाठक क्षमा करें। —सपादक

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'अनेकान्त' का

अन्तर्व्यथा-मिश्रित मौन-नाद

'शहीदों की चिताओं पर, लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पर मिटने वालों का, यही बाकी निशाँ होगा ।।'

यह एक बड़ा हादसा था जो दि० ३१-१०-८४ को भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ घटित हुआ। हत्यारों ने क्षण भर में उनका खून कर दिया और पूरा राष्ट्र दिलो मे उनकी यादें बसाए हुए आँसू बहाता रह गया तथा समस्त विश्व विचार मे पड़ गया। इसे विधि की बिडम्बना ही कहा जायगा कि जिसने कभी प्रथमगाधी राष्ट्रपिता बापू को और अब द्वितीय गांधी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा जी को एक ही रीति से कराल-काल के सुपुर्द कराया। हम यह भी कहेगे कि विधि ने इस बार क्रूरता में काफी बढवारी करनी—बापू पर तीन गोलियाँ, तो इन्दिरा जी पर सोलह और शायद इससे भी अधिक गोलियाँ चलवाईं। तब ४० करोड़ जनता ने ही आंसू बहाए और अब सत्तर करोड जनता के आंसू पोछने वाला कोई नही दिखा।

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने देश-हित में क्या किया यह बताने की जरूरत नही अब तो यह ढूढ निकालना भी कठिन है कि देश का ऐसा कौन-सा हित था जो उन्होंने नही किया ? वे सभी क्षेत्रो मे सभी दृष्टिकोणों से भारत की उन्नति मे सदा अग्रसर रहकर मार्ग-दर्शक रही और विश्व को भी शान्ति की स्थापना के लिए प्रेरित करती रही। वे पिछड़ों को बढ़ाने वालीं और उठे हुओ को स्थायित्व प्रदान करने वाली प्रथम भारत-रत्न महिला थीं। जैन-उत्सव, चाहे वह २५०० वर्षीय निर्वाणोत्सव हो, चाहे महामस्तकाभिषेक या ज्ञानज्योति प्रसार, सभी मे श्रीमती इन्दिरा जी का योग रहा— वे धर्ममात्र मे आस्थावान् थी। उनके स्थान की पूर्ति सर्वथा असम्भव है। उनके उपकारो के प्रति भारत और विश्व के अनेको देश सदा कृतज्ञ रहेंगे।

जो लोग भारत को खण्ड-खण्ड रूप में और पिछड़ा देखने के स्वप्न सजोने मे लगे है, उन्हें हम बता दें कि – भारत-भूमि मे बड़ी क्षमता है। गांधीद्वय ने भारतवासियो की पवित्र-भूमि को अपने रक्त का कतरा-कतरा समर्पित किया है, जिससे सभी भारतीयों को बल मिला है अत: वे इससे भी कई गुनी क्षतियो और अपार कष्टों को सहकर भी अपनी आजादी और अखण्डता को बरकरार रखेंगे और इस देश की प्रभु-सत्ता को सुरक्षित रखने वाले ऐसे गाधी सदा ही विद्यमान रहते रहेंगे, जो गलत स्वप्नो को कभी भी पूरा न होने देगे।

उक्त परिप्रेक्ष्य में हमें देखना चाहिए कि क्या हम थोथे उपक्रमों से वैसी अमरता पा सकेंगे जैसी बेजोड़ और अमूल्य अमरता श्रीमती इन्दिरा जी ने कर्तव्य-निष्ठ रहकर पाई ? लोगों की दृष्टि मे...

'जब तक सूरज चाँद रहेगा।
इन्दिरा तेरा नाम रहेगा ।।'

दि० ११-११-८४

ओम् अहम्

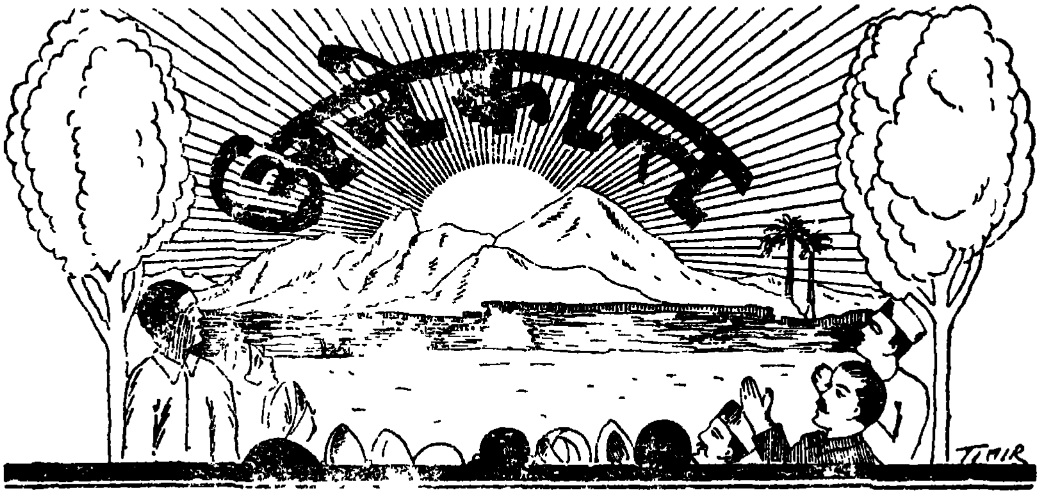

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३७ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० सं० २०४० | जुलाई-सितम्बर १९८४

सुप्रभात-स्तोत्रम्

(नेमिचन्द्र यति-विरचितम्)

चन्द्रार्क-शक्र-हरि-विष्णु-चतुर्मुखाद्यास्तीक्ष्णैः स्ववाण निवहैर्विनिहत्य लोकम् :
व्याजृम्भतेऽहमिति नात्र परोऽस्ति कश्चित्तं मन्मथं जितवतस्तव सुप्रभातम् ।।१।।
गन्धर्व-किन्नर-महोरग-दैत्य-यक्ष-विद्याधरामर-नरेन्द्र-समर्चिताङ्घ्रिः ।
संगीयते प्रथित-तुम्बुर-नारदैश्च कीर्तिः सदैव भुवने तव सुप्रभातम् ।।२।।
अज्ञान-मोह-तिमिरौघ-विनाशकस्य सज्ज्ञान-चारु-बलि-भूषित-भूषितस्य ।
भव्याम्बुजानि नियतं प्रतिबोधकस्य श्रीमज्जिनेन्द्र दिनकृत्तव सुप्रभातम् ।।३।।
श्वेतातपत्र-हरिविष्टर-चामरौघ-भामण्डलेन सह दुन्दुभि-दिव्यभाषाऽ- ।
शोकाग्र-देवकर-मुक्त-सुपुष्पवृष्टी देवेन्द्र-पूजितवतस्तव सुप्रभातम् ।। ४ ।।
तृष्णा-क्षुधा-जनन-विस्मय-राग-मोह-चिन्ता-विषाद-मद-खेद जरा-रुजौघाः ।
प्रस्वेद-मृत्यु-रति-रोष-भयानि निद्रा देहे न सन्ति हि यतस्तव सुप्रभातम् ।। ५ ।।
भूतं भविष्यदपि सम्प्रति वर्तमानं ध्रौव्यं व्ययं प्रभवमुत्तमनप्यशेषम् ।
त्रैलोक्य-वस्तु-विषयं सविशेषमित्थं जानासि नाथ ! युगपत्तव सुप्रभातम् ।। ६ ।।
स्वर्गापवर्ग-सुखमुत्तममव्ययं यत् तद्देहिनां सुभजतां विदधासि नाथ !
हिंसाऽनृतान्यवनिता-परवित्त-सेवा-संत्यागकेन हि यतस्तव सुप्रभातम् ।। ७ ।।
संसार-घोर-तर-वारिधि-यानपात्र ! दुष्टाष्टकर्म-निकरेन्धन-दीप्त-वन्हे !
अज्ञान-मूढ-मनसां विमलैकचक्षुः श्रीनेमिचन्द्र-यतिनायक ! सुप्रभातम् ।। ८ ।।
प्रध्वस्तं परतारकमेकान्त-ग्रह-विवर्जितं विमलम् ।
विश्वतमः-प्रसर-हरं श्रुतप्रभातं जयति विमलम् ।। ९ ।।

देवदास नामक दो कवियों के दो भिन्न-भिन्न हनुमान चरित

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन 'विद्यावारिधि'

जनवरी १६८१ में विदिशा के श्री राजमल मडवैया ने 'पवन पुत्र हनुमान चरित्र' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसको 'श्री कविवर ब्रह्मदेवदास रचित' सूचित किया है। रचना को सवत् १८३४ (सन् १७७७ ई०) मे प्रतिलिपि कराकर किन्ही डालचन्द्र के पुत्र गनपतराय द्वारा माकवाड़ी के जैन मन्दिर मे दान की गई हस्तलिखित प्रति पर से प्रकाशित किया गया है। इस रचना मे सब मिला कर ८४७ दोहा-चौपाई आदि है। ग्रथान्त के ८४०-८४३ चार पद्यो मे ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है कि मूल ग्रन्थ के शारदागच्छ मे मुनि रत्नकीर्ति हुए, जिनके शिष्य मुनि अनन्तकीर्ति थे। इन अनन्तकीर्ति के शिष्य ब्रह्म देवदास थे जिन्होने सवत १६१६ की वैसाख कृष्ण नवमी के दिन प्रस्तुत 'हनूकथा' रचकर पूर्ण की थी।

इस संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त कवि ने अपने विषय मे और कोई सूचना नही दी है—अपने जन्म स्थान निवास स्थान, ग्रन्थ के रचना स्थल, किनकी प्रेरणा से यह रचना की है, इत्यादि कोई उल्लेख नही किया। ग्रन्थ के अंत में दो दोहो मे किसी प्रतिलिपिकार ने माघ शुक्ल दोयज चन्द्रवार को उक्त प्रति के लिखने की सूचना दी है—संवत् तथा अपना अन्य कोई परिचय नही दिया है। अन्त में छपा है 'इति श्री हनुमान चरित्र सम्पूर्ण'। कहा नही जा सकता कि वह मूल रचनाकार की पुष्पिका है, या प्रतिलिपिकार को अथवा वर्तमान प्रकाशक मडवैया जी की। इस प्रकार भ० अनन्तकीर्ति के शिष्य ब्रह्मदेवदास नामक कवि की इस 'हनू कथा' (८४७ छंद परिमाण) का रचना काल सन् १५५६ ई० है।

शोधांक ६ फरवरी १६६०) के पृष्ठ २१८-२२० पर प्रकाशित अपने 'हिंदी भाषा की अप्रकाशित नवीन रचनाएं' के अन्तर्गत स्व० पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने एक 'हनुमान चरित' का परिचय दिया था। उनके कथनानुसार इस रचना को हनुमानरासा भी कहते हैं, वह २००० के लगभग दोहा चौपाई आदि छंदों में निबद्ध है, ग्रन्थ का कथा भाग बडा ही रोचक है, इसके कर्ता ब्रह्मचारी कवि देवदास है जो मालदेश की भट्टारकीय गद्दी के अधिकारी भ० ललितकीर्ति के शिष्य थे, और गुरु के स्वर्गवास हो जाने पर उक्त आर्यब्रह्म देवदास ने सवत १६८१ की वैसाख सुदी ८ गुरुवार के दिन राइसेनगढ के चन्द्रप्रभु चैत्यालय मे इस ग्रन्थ की रचना की थी। पडित जी द्वारा उद्धृत ग्रन्थ की अन्त्य प्रशस्ति की १८ चौपाइयो मे कवि ने मालवा देश मे स्थित पर्वत पर निर्मित उक्त राय सैन गढ नामक दुर्ग का, उसके चन्द्रप्रभु चैत्यालय, अन्य मठ मदिर देवल आदि भवनो का, तालाब, बापिका, कूप, बाग बगेजो आदि का, वहा बसने वाले पौरापाट, गूजरवानी, पौसवार, गोलापूर्व, गोलालारे लमेचू आदि विभिन्न जातीय जैनीजनो का, अपने गुरु भट्टारक ललितकीर्ति का तथा ग्रन्थ रचना की उपरोक्त तिथि आदि का उल्लेख किया है। ग्रन्थकर्ता ने स्वय अपना नाम 'आर्य ब्रह्म कवि देउदास' दिया है। पडित जी ने ग्रंथ के कुछ प्रकरण भी उद्धृत किए हैं, यथा रावण द्वारा सती सीता को फुसलाने के लिए निपुणमति नामक दूती का, तदनन्तर अपनी पटरानी मन्दोदरी का भेजा जाना, उन दोनो के साथ सीताजी के साथ रोचक सवाद तथा अन्ततः विफल मनोरथ होकर लौटना आदि। प० परमानद जी ने ग्रन्थ का उपरोक्त परिचय आदि शाहगढ (जिला सागर) के शास्त्रभंडार के एक जीर्ण गुटके में प्राप्त प्रति पर से दिया था। इस प्रकार आर्य ब्रह्म कवि देउदास कृत प्रस्तुत हनुमानचरित या हनुमानरासा (लगभग २००० छद परिमाण) का रचनाकाल सन् १६२४ ई० है।

पं० परमानन्द जी को संभवतया मडवैया जी द्वारा प्रकाशित रचना की कोई जानकारी नहीं थी और मडवैया जी ने दोनों ग्रंथों और उनके कर्ताओं के नामों में कथंचित साम्य देखकर अभिन्न समझ लेने की भूल की है। किन्तु दोनों कथाओं की विषय वस्तु प्रायः एक (हनुमान कथा या चरित) होते हुए भी और दोनो के कर्ताओं के नामो में अद्भुत साम्य सा रहते भी, इसमें सदेह नही है कि ये एक दूसरे से भिन्न दो स्वतन्त्र रचनाये है, और दो भिन्न कवियों द्वारा रचित हैं। न केवल दोनों के रचना काल मे ६५ वर्ष का अन्तराल है, उनके परिमाण, आकार-प्रकार, भाष और शैली मे भी पर्याप्त अन्तर है। सन् १५५६ ई० वाली हनूकथा अपेक्षाकृत सक्षिप्त है। उसमे सीता के साथ मन्दोदरी आदि के सवादों के प्रसग हैं ही नही। अन्य भी अनेक ऐसे प्रसंग जो सन् १६२४ ई० वाले हनुमानचरित में प्राप्त है, शायद उसमे न हों।

इसके अतिरिक्त १५५६ ई० वाली हनूकथा के कर्ता ब्रह्मदेवदास के गुरु मुनि अनन्तकीर्ति थे जो स्वयं मूलसघ शारदागच्छ के मुनि रत्नकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर थे। यह रत्नकीर्ति सूरतपट्ट के भ० अभयचन्द्र के प्रशिष्य और भ० अभयनन्दि के शिष्य प्रतीत होते हैं। मालवा पट्ट के इन अभिनव रत्नकीर्ति के एक शिष्य भा० कुमुदचन्द्र थे जिनके शिष्य ब्रह्म रायमल्ल (१५५८-१६१० ई) थे। स्वय कुमुदचन्द्र की एक ज्ञात तिथि १५१५ ई० है। अतएव रत्नकीर्ति के दूसरे शिष्य और कुमुदचन्द्र के गुरु भाई मुनि अनन्तकीर्ति का समय भी इसी के प्रायः लगभग है। उनके शिष्य ब्रह्मदेवदास द्वारा १५५६ ई० मे हनूकथा का रचा जाना सुसगत है। ब्र० रायमल्ल भी अनन्तकीर्ति को गुरु मानते थे और अनन्तकीर्ति के उत्तराधिकारी, संभवतया भ० प्रतापकीर्ति (ज्ञाततिथि १६१६ ई०) थे। ऐसा लगता है कि सूरत पट्ट के अभयचन्द्र या अभयनन्दि द्वारा मालवा का शाखा पट्ट स्थापित किया गया था, और उक्त अभिनव रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, ब्रह्मरायमल, मुनि अनन्तकीर्ति, ब्रह्मदेवदास और भ० प्रतापकीर्ति उसी शाखा पट्ट से सम्बद्ध थे।

दूसरे हनुमानचरित (रासा) के कर्ता आर्य ब्रह्म कवि देउदास (देवदास) के गुरु भट्टारक ललितकीर्ति ग्वालियर-कंडज पुर (मोह) पट्ट के भ० यशकीर्ति के शिष्य भ० ललितकीर्ति प्रतीत होते है जो पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण के कर्ता भ० धर्मकीर्ति (१६१२-१४ ई०) के गुरु थे। इन ललितकीर्ति के शिष्य उक्त आर्य ब्रह्मदेव ने अपना ग्रथ १६२४ ई० मे रचा और उनकी सूचनानुसार उस समय उनके गुरु भ० ललितकीर्ति दिवगत हो चुके थे। इन तथ्यों मे कोई भी विसगति प्रतीत नही होती।

अस्तु यद्यपि उक्त दोनों रचनाओ और उनके कर्ताओं मे नाम साम्य है, दोनों एक ही परम्परा मूल संघ-सरस्वती-गच्छ से सम्बद्ध थे तथा सम्भवतया प्रायः एक ही क्षेत्र, मालवा-बुन्देलखंड, के निवासी भी थे, वे दोनों ग्रंथ और उनके कर्ता एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। उक्त आर्य ब्रह्मदेवदास कृत हनुमानचरित या रासा (१६२४ ई०) का उद्धार करके उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता है। जैन साहित्य के इतिहास मे नाम-साम्य बहुधा भ्रांतियों का कारण हुआ है।

—ज्योति निकुंज
चार बाग, लखनऊ-१६

असुरसुरमणुयकिण्णरविसरिकिपुरिसमहियवरचरणो।
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिन्दो॥
खमदमणियमधराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं।
णाणुज्जोदिय सल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं॥

प्रथम प्राणी विज्ञान (Zoology) विशेषज्ञ जैन-कवि हंसदेव

☐ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

भारतवर्ष अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा एवं ज्ञान के लिए विश्व विख्यात रहा है। भारत में विज्ञान की विभिन्न शाखायें जैसे गणित, ज्योतिष, शल्य, चिकित्सा, औषधि, स्थापत्य, आयुर्वेद, प्राणिविज्ञान, रसायनविज्ञान, खगोल विद्या, आदि आदि क्षेत्रों में सबसे अग्रणी माना जाता था। अपनी उत्कृष्टता के कारण विश्व के विभिन्न देशो मे इसे बड़ा गौरव एवं सम्मान प्राप्त था। विश्व के विभिन्न देशों ने भारत से उपर्युक्त क्षेत्रों में बहुत कुछ सीखा और समझा एवं भारत को आदर दिया।

यूनान-सम्राट विश्वविजेता सिकन्दर जब भारत से वापिस यूनान लौटा तो अपने साथ अनेकों भारतीय विद्वानो को एवं भारतीय ग्रंथरत्नों को सम्मान के साथ लेगया। था, उसने उन विद्वानों द्वारा उन श्रेष्ठग्रन्थों का अध्ययन मनन, चिन्तन एव अनूदन कराकर यूनानी सभ्यता एव साहित्य को विकसित एवं सुसंस्कृत कराया था। यूनान ने भारत मे बहुत कुछ सीखा था। पर हम अपने संकुचित दृष्टि कोणों के कारण कालान्तर में अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को भुला बैठे तथा दूसरो की तुलना मे पिछड गये।

उधर यूरोप में ज्ञान की पिपासा तीव्रता से जाग्रत हो रही थी और वे लोग हमारे ग्रन्थो को लेकर उन पर शोध खोज कर आगे बढ़ने लगे और विज्ञान के क्षेत्र मे अपनी श्रेष्ठता का दावा जताने लगे और अपनी मौलिकता का ढिंढोरा पीटने लगे। यहां मै विज्ञान के अन्य क्षेत्रो की चर्चा न करते हुए केवल प्राणि विज्ञान (Zoology) के क्षेत्र मे ही संक्षिप्त सी चर्चा करना चाहता हू।

यूरोपीय विद्वानो का दावा है कि Zoology के क्षेत्र मे अठारहवी सदी से ही उन्ही ने शोध खोजकर विज्ञान की इस शाखा को समृद्ध एव विकसित किया है। और इन्ही विद्वानों को आधार मानकर भारत के आधुनिक प्राणिविज्ञान वेत्ता डा० सलीम अली ने इस क्षेत्र में बड़ा विशाल कार्य किया है और वे नेशनल प्रोफेसर की ख्याति से विख्यात हैं। पर यह बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि जो काम डा० सलीम अली ने अब किया है या यूरोपीय विद्वान बडे गर्व के साथ जिस पर अपना दावा पेश करते हैं उसी विख्यात विशालकार्य को अब से लगभग साढे सात सौ वर्ष पूर्व लगभग सं० १३०० में भारत के विख्यात जैन कवि श्री हंसदेव जी ने "मृग पक्षी शास्त्र" नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखकर आधुनिक वैज्ञानिकों का मार्ग प्रशस्त किया था।

"मृग पक्षी शास्त्र" संस्कृत पद्यों में रचा गया है यह दो भागो मे विभाजित है। प्रथम भाग में चतुष्पदों का तथा द्वितीय भाग मे पक्षियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें संस्कृत के १७१२ कुल छंद विद्यमान हैं। इसके रचयिता श्री पं० हंसदेवजी ने अपना विस्तृत परिचय नही दिया है। विभिन्न उद्धरणो से केवल इतना ही पता चलता है कि प० हंसदेव जी जिनपुर के शासक महाराज शौण्डदेव के राज्याश्रित कवि थे। तथा प्रकृति विज्ञान एवं प्राणी विज्ञान के प्रकाण्ड पडित एवं ज्ञाता थे।

आश्चर्य तो इस बात का है कि आज से साढे सात सौ वर्ष पूर्व उस युग मे जब कि वैज्ञानिक साधनो का आज की तुलना मे सर्वथा ही अभाव था तथा जाँच पड़ताल एव परखने और शोध खोज की सुविधाए सर्वथा सीमित थी, ऐसी अभाव की परिस्थितियों में एक जैन कवि, जिसे सभी जैन परम्पराओं का निर्वाह भी करना पड़ता होगा, कैसे इतना गम्भीर चिन्तन मनन एव शोध खोज पूर्ण अध्ययन कर "मृग पक्षी शास्त्र" जैसे विख्यात प्रामाणिक विशाल ग्रथ की रचना कर सका। और भावी पीढ़ी के लिए एक अनूठी विरासत छोड सका। अपने आपमें यह एक अद्भुत आश्चर्य ज्ञात होता है।

यह ग्रन्थ सर्वथा अनुपलब्ध है, मैं बहुत प्रयास कर चुका हूं कि कही से उसकी पान्डुलिपि अथवा प्रकाशित् प्रति उपलब्ध हो जावे पर सर्वथा निराश रहा, कृपालु पाठकों से विनम्र विवेदन है किसी को यह ग्रन्थ मिल सके या इसके बारे में कोई जानकारी उपलब्ध हो सके तो कृपया मुझे सूचित करें, मैं तो बड़े-बड़े विश्वविद्यालयो के Zoology Depatts के प्रोफेसरों से भी सपर्क साध चुका हूं पर सर्वथा निराश रहा।

श्री डा० वेलंकर ने अपने "जिनरत्नकोश" में इसका उल्लेख करते हुए पेलेस लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम में इसकी पाण्डुलिपि होने की सम्भावना व्यक्त की है पर वहां से पत्र व्यवहार में भी मुझे सफलता नही मिली। डा० वेलकर ने लिखा है .—"मृग पक्षी शास्त्र" of Sh. Hansdeva a protege of kings shoundadava . It is in two parts containing total work of 1712 stanzas It is a rare work an zoology and a Mrs. of it is presented ıu the palace library of Trivendrum . The auther is said to have lived in the 13th centerry "

उपर्युक्त ग्रन्थ की सर्वप्रथम जानकारी मद्रास के *एपिग्राफिस्ट श्री विजय राघवाचार्य को प्राप्त हुई थी।* इसकी प्रतिलिपि अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री के० सी० वुड अमेरिका लेगये थे। जब जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान श्री आटोमेडर को इस महत्त्वपूर्ण कृति का पता चला तो वे इसका अग्रेजी और जर्मनी मे अनुवाद करना चाहते थे, पर वे प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सन् १९१४ में नजरबन्द कर लिए गये थे और दुर्भाग्यवश यह पुनीत कार्य तब रुक गया, सन् १९२५ मे ग्रन्थ सर्वप्रथम देवनागरी में प्रकाशित हुआ तथा सुन्दराचार्य ने इसका अग्रेजी अनुवाद किया जो सन् १९२७ मे प्रकाशित हुआ, पर कहां से? प्रकाशित कराया वह जानकारी उपलब्ध नही होती है संभवत. *"इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका"* में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके।

इस तरह के ग्रथों की श्रेणी में "गवायुर्वेद," गज-चिकित्सा अश्वचिकित्सा आदि प्रकरण आयुर्वेदिक ग्रंथो में उपलब्ध होते हैं पर सर्वांग पूर्ण रचना यह अपने आप में एक ही है। केवल हाथियों के बारे में विस्तृत विवेचन करने वाली दो विस्तृत कृतियां उपलब्ध होती हैं एक है श्री पालकाप्यकृत 'हस्ति आयुर्वेदिक' तथा दूसरी है श्री *नीलकण्ठकृत "मातङ्गलीलां।" ये दोनों ही कृतियां बड़ी* प्रामाणिक विस्तृत एवं विख्यात हैं इनमें सिर्फ हाथियों के बारे में ही विस्तार से चर्चा एवं विशद विवेचन किया गया है। घोड़ों की विशेषताओं का विशद विश्लेषण करने वाला एक विशाल ग्रंथ 'अश्व वैद्यकम्' श्री जयदेव ने रचा था। कुमाऊं के महाराजा श्री रुद्रदेव ने बाज पक्षी की प्रामाणिक जानकारी अपने ग्रंथ "श्येनिक शास्त्र" में विस्तार से दी है? इस तरह यूरोपीय विद्वानों का यह दावा है कि प्राणी विज्ञान का आविष्कार *अठारहवीं* शताब्दी में उनके द्वारा हुआ सर्वथा निराधार सिद्ध होता है। यूरोपीय विद्वानों से पूर्व ही भारतीय विद्वान इस क्षेत्र में पर्याप्त और प्रामाणिक एवं विशाल साहित्य की रचना कर चुके थे।

भारतवर्ष राजा महाराजाओं का देश था अत: हर राज घराने मे प्रत्येक राजा तथा राजकुमार आखेट क्रीडा में निपुण एवं निष्णात हुआ करते थे। आखेट उनका *व्यसन एव ज्ञान-वृद्धि का साधन हुआ करता था,* इसे एक उच्च स्तर का खेल एव मनोविनोद तथा मनोरंजन का साधन माना जाता था। अत: राजाओं एवं राजकुमारों तथा उनके सहयोगियो का प्रकृतिविज्ञान एव प्राणी विज्ञान के क्षेत्र दक्षता एव नैपुण्य और कोशल प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य या विस्मय की बात न थी। यह तो भारतीय दासता थी जो अभिशाप बनी और उसने हमारे ज्ञान, कौशल, हस्त शिल्प नैपुण्य, दक्षता, वैज्ञानिक प्रतिभा आदि सभी गुणो का ह्रास करा दिया और विदेशी लोग हमारी विशेषताओं को लेकर स्वय साधन सम्पन्न बनकर अपना प्रभुत्व एवं वर्चस्व दिखाने लगे। अस्तु…

"मृग पक्षी शास्त्र" जैसा महत्वपूर्ण ग्रंथ कैसे रचा गया। इसकी अपनी ऐतिहासिक गाथा है, वह इस प्रकार है कि जिनपुर के महाराज श्री शौण्डदेव एक बार आखेट क्रीड़ा के लिए वन में गये और ढोल नगाड़े बजवाकर

हांका लगवाया जिससे वन के सारे पशु एक स्थल पर एकत्रित हो गये। महाराज ने जब इस पशु समूह को देखा तो उनके मनोहारी सौन्दर्य से एकदम प्रभावित एवं आल्हादित हो उठे और मन ही मन सोचने लगे कि यदि आखेट द्वारा इस पशु सम्पदा को नष्ट कर दिया तो हमारे सारे वन निर्जीव और शून्य हो जावेगें तथा उनकी प्राकृतिक आभा एवं सौन्दर्य नष्ट हो जावेगा तथा इनका विज्ञान सदा सदा के लिए लुप्त हो जावेगा और हम उससे सदा के लिए वंचित हो जावेगें, अतः महाराज बिना आखेट के ही राजमहल लौट आये तथा अपना दरबार आयोजित किया और सभी पंडितों, विद्वानों एवं ज्ञानियों से आग्रह किया कि प्रकृति जगत एवं प्राणी विज्ञान की सुरक्षा के लिए वनवासी प्राणियों पर एक प्रामाणिक तथा विज्ञान सम्मत ग्रन्थ लिखा जावे जिससे प्राणीविज्ञान सदा सदा के लिए सुरक्षित रह सके और वन्य पशुओं के साथ साथ मानव जगत का भी कल्याण हो।

महाराज शौण्डदेव की अन्तर्व्यथा तथा प्राणी विज्ञान एवं प्रकृति जगत की जिज्ञासा से उनके मंत्री ताराचन्द जी विचलित हुए बिना न रह सके उन्होंने महाराज की अभिलाषा पूर्त्यर्थ विज्ञान की खोज की ओर महाराज से निवेदन किया कि अपनी नगरी मे जैन कवि पं. हंसदेवजी इस विज्ञान के महापंडित एवं कला पारायणी हैं। वे आपकी अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं; महाराज शौण्डदेव ने तत्काल ही पं. हंसदेव जी को ससम्मान राजसभा मे आमंत्रित कर अभिलाषा प्रकट की। प. हसदेव जी महाराज श्री का आग्रह न टाल सके और महाराज की प्रसन्नता एवं अपने ज्ञान को अभिवृद्धि एव प्राणी विज्ञान को चिरस्थायित्व देने के लिए उन्होने "मृगपक्षी शास्त्र" नामक प्रामाणिक एवं श्रेष्ठ वैज्ञानिक ग्रंथ की रचना की, जो प्राणी विज्ञान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों मे अंकनीय है। साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व लिखा ऐसा अनूठा ग्रंथरत्न अन्यत्र दुर्लभ है।

इस ग्रथ मे प्रमुख पशु पक्षियो के ३६ वर्ग है जिनमे उनके रूप, रंग, प्रकार स्वभाव, किशोरावस्था, संभोगकाल, गर्भकाल, प्रसूतकाल, भोजन, आयु आदि-आदि नाना विशेषताओं का वर्णन किया है। कवि के अनुसार पशु-पक्षियों में रजो गुण और तमोगुण ही पाये जाते हैं। सत्वगुणों का इनमें सर्वथा अभाव रहता है वह तो केवल मानव जगत में ही उपलब्ध होता है, उपर्युक्त गुणों में से प्रत्येक गुण उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन भागों में विभाजित किया गया है। कवि के कथनानुसार सिंह, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, सारस, हंस, कोयल, कबूतर, आदि प्राणियों मे उत्तम राजस गुण पाया जाता है। चीता, बकरा, मृग बाज आदि में मध्यम राजस तथा भालू, भैंसा, गैंडा आदि मे अधम राजस गुण पाया जाता है। इसी तरह ऊंट, भेड़िया, कुत्ता, मुर्गा आदि में उत्तम तामस गीध, उल्लू, तीतर आदि में मध्यम तामस तथा गधा, सुअर, बन्दर, स्यार, बिल्ली, चूहे, कौए आदि में अधम तामस गुण पाया जाता है।

आयु के विषय मे कवि का कहना है कि हाथी १०० वर्ष, गैंडा २२, ऊंट ६०, घोडा २५, सिंह, भैंस, बैल, गाय आदि २० वर्ष, चीता १६ वर्ष, गधा १२ बंदर, कुत्ता, सुअर, आदि १०, बकरा ६, हंस ७, मोर ३; चूहा और खरगोश डेढ वर्ष, तक की आयु प्राप्त करते हैं। कवि ने शेरों के छः भेद गिनाये हैं : १ सिंह, २ मृगेन्द्र, ३ पञ्चास्य, ४ हर्यक्ष, ५ केसरी, ६ हरि। इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार तथा कार्य आदि की भिन्नताएं भी बड़े विस्तार से वर्णित की गई हैं। जब सिंह ३ या ७ वर्ष का होता है। तो उसकी कामुकता बढ़ने लगती है। विशेषतया वर्षा ऋतु में वह बहुत कामुक हो जाता हैं। यह पहले तो मादा को चाटकर, फिर पूंछ हिलाकर, फिर कूद फांदकर, फिर जोर से गर्जना करके उसे अपनी ओर आकर्षित करने का भरपूर प्रयास करते हैं। इनका संभोग काल अर्धरात्रि होता है। गर्भावस्था मे मादा सिंह के साथ ही घूमती फिरती तथा शिकार खोजती रहती है। गर्भकाल मे मादा की भूख कम पड़ जाती है तथा शिथिलता और कमजोरी सताने लगती है, धीरे धीरे प्रसव के नजदीक आते-आते शिकार से विमुख होने लगती है, वह ६ से १२ माह के बीच ५ बच्चो तक को जन्म देती है। इनका प्रसवकाल प्रायः बसन्त का अन्त या ग्रीष्म का

आरम्भ काल होती है। यदि प्रसव शरद ऋतु में होता है तो बच्चे दुर्बल और शक्ति हीन होते हैं। बच्चे ६-४ माह तक ही माँ का दूध पीते है फिर गरज गरज कर शिकार की तलाश मे भागने दौड़ने लगते हैं, इन्हे चिकना और कोमल मांस अधिक रुचिकर होता है। इनका किशोर काल २-३ वर्ष की आयु से प्रारभ होने लगता है तथा तभी से इनके क्रोध की मात्रा भी बढ़ने लगती है। ये लोग भूख सहन नहीं कर पाते हैं और पूर्णतया निर्भीक होते हैं। इसीलिये ये पशुओं के राजा कहलाते हैं।

ग्रन्थ मे प्रत्येक प्रकार के शेर की विभिन्न विशेषताओ का विस्तार से वर्णन किया गया है जैसे सिंह की गर्दन के बाल बड़े घने होते है रूप सुनहला होता है पीछे की ओर कुछ कुछ सफेद होता है और वे तीर की भाँति तेज दौड़ते है। परन्तु मृगेन्द्र की गति गंभीर और मद होती हैं इसकी आखें सुनहली और मूछें बड़ी बड़ी लम्बी होती है इसके शरीर पर चकत्ते होते है। पचास्य उछल-उछल कर चलता है, इनकी जिह्वा बाहर लटकती रहती है, इन्हे नीद बहुत आती है हर समय ऊघते ही रहते है। हर्यक्ष को हर समय पसीना ही आता रहता है। केसरी का रंग लाल होता है जिसमे धारियो पड़ी रहती है। हरि का शरीर छोटा होता है। इसी तरह और भी अन्य पशु, पक्षी, हाथी, घोडे, गाय, बैल, बकरे, गधे, कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदि के अनेको भेद वर्ग तथा विशेषताए दर्शायी गई है। कवि ने परि समापन करते हुए लिखा है कि इन पशु पक्षियों की रक्षा से मनुष्य को बड़ा लाभ तथा पुण्य प्राप्ति होती है और ये प्राणी मनुष्य को नाना तरीको से सहायता एवं मदद करते हैं।

ग्रथ का दूसरा भाग पक्षियो से सम्बन्धित है जो अण्डज कहलाते हैं। जो उन्हें अपने कर्मानुसार यह अण्डज योनी प्राप्त होती है। पक्षी बड़े चतुर होते हैं अपने अण्डे कब छोड़ना चाहिए इसका विस्मयकारी बोध इन्हें जन्म से ही प्राप्त होता है, ये पक्षी घर और वन दोनों की ही शोभा है।

इनसे प्यार करना भारतीय सस्कृति का मूल मंत्र है। तोता, मैना, हंस, तीतर, बटेर आदि पक्षी अभी भी पाले जाते हैं। पक्षियों में सबसे अधिक चतुर कोयल होती है जो अपने बच्चो का पालन कोओं से करवाती है इसीलिए सस्कृत मे कोयल को परभृत' शब्द से पुकारा जाता है। ग्रन्थ के इस भाग में हंस, चन्द्रवाक, सारस, गरुड़, काक, बक, शुक, मयूर, कपोत आदि अनेकों पक्षियों के नाना प्रकार भेद व वर्गो का वर्णन किया गया है, इनके सौन्दर्य और सुकुमारता का बड़ा ही मनोहारी एवं रोचक वर्णन दिया गया है। इसमे कुल २२५ पशु पक्षियों का विवरण बडे विस्तार एव रोचकता से सटीक एव प्रामाणिक ढग से प्रस्तुत किया गया है जो विज्ञान की कसौटी पर सर्वथा खरा उतरता है। पर खेद हैं कि इतने बड़े वैज्ञानिक विद्वान कवि हंसदेव का विस्तृत जीवन परिचय हमे उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। कृपालु पाठकों से निवेदन है कि जिन्हे इस सबध मे जो भी जानकारी उपलब्ध हो उसे पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित करावें तथा मुझे भी निम्न पते पर सूचित कर कृतार्थ करे। इत्यलम्। इस लेख के लिए अक्तूबर १९८१की सरस्वती पत्रिका का उपयोग किया गया है एतदर्थ कृतज्ञता एव आभार प्रदर्शित करता हूं।

"श्रुत कुटीर"
६८, कुन्ती मार्ग विश्वास नगर
शाहदरा दिल्ली-११००३२
१५ जुलाई ८४

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥'—
—कुन्दकुन्दाचार्य

भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव

□ श्री आर्यिका ज्ञानमती माता जी

दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुन्दकुन्दचार्य का नाम श्री गणधर देव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

मंगलं भगवान वीरो, मगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यों, जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ॥

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारम्भ मे तथा दीपावली के वही पूजन व विवाह आदि के मगल प्रसग पर भी लिखा जाता है। ऐसे आचार्य के विषय मे जैनेन्द्र-सिद्धांत कोश के लेखक लिखते हैं—

आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म विषय मे इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। आपके अनेको नाम प्रसिद्ध है। तथा आपके जीवन मे कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्मप्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयो के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषयो पर ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्व प्रथम,ग्रन्थ षट्खंडागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़कर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एक दम शुद्ध बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वयं महान् चारित्र-वान् थे। भले ही अज्ञानी जगत् उन्हें न देख सकें, पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहारनय व निश्चयनयो का साथ साथ कथन किया है। जहां वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहां उसकी कथचित् उपादेयता बताये बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढकर संकुचित एकांतदृष्टि अपनाने के बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनायें।"

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि प्राप्ति, उनकी रचनाये, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. नाम—मूलनदि संघ की पट्टावली मे पाँच नामों का उल्लेख है—

आचार्य: कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यों गृद्धपिच्छः पद्मनदीति तन्नुतिः ॥

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव एलाचार्य गृच्छपिच्छ और पद्मनंदि। मोक्ष पाहुड़ की टीका समाप्ति मे भी ये पाँच नाम दिये गये हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हे पद्मनदी नाम से कहा है। इनके नामो की सार्थकता के विषय मे प० जिनदास फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना मे कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कौण्डकुण्ड नगर के निवासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनदी है। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की ऊंचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर साढ़े तीन हाथ होने से इन्हें सम शरण मे चक्रवर्ती ने अपनी हथेली मे रखकर पूछा प्रभो-नराकृति का यह प्राणी कौन है। भगवान ने कहा भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनदी नामक मुनि हैं इत्यादि। इसलिए उन्होने उनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय उनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा, अतः "गृद्धपिच्छ" कहाये। और अकाल मे स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गई तब ये वक्रग्रीव कहलाये। पुन. सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा

ठीक हो गई थी।" इत्यादि।

२. श्वेताम्बरों के साथ वाद गुर्वावली में स्पष्ट है—

पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी:,

पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।

उज्जयंतगिरौ तेन गच्छ: सारस्वतोऽभवत्।

अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम: श्री पद्मनंदिने।"

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनंदी गुरू हुये जिन्होंने ऊर्जयत गिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ, अत: उन पद्मनंदी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पाडवपुराण मे भी कहा है।

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जतगिरिमस्तके,

सो अवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ॥

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयत गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा लिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द,
गुरु वंदन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तहं संशयमति सो,
साक्षी वदी अंबिकाकार।
"सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर",
कही सुरी तहं प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव वसौ उर मेरे,
विघन हरण मंगल करतार।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहां पर पहले वंदना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपथ के हों वे ही पहले वन्दना करें। तब श्री कुन्दकुन्द देव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर" ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शन सार ग्रन्थ सभी को प्रमाणिक है। उसमें लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेन।

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति। ४३।

यदि श्री पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते। पंचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है······प्रसिद्ध कथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमंधर स्वामितीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवर्ण ···· पुनरागतै: श्री कुन्द कुन्दाचार्यदेवै.।" श्री श्रुतसागरसूरि ने भी षटप्राभृत की प्रत्येक अध्याय की समाप्ति मे "पूर्वविदेह पुंडरीकिणी नगरवंदित सीमंधरापर-नामक स्वयंप्रभजिनेन तज्ज्ञानसंबोधित भारतवर्ष भव्यजनेन।" इत्यादि रूप से विदेहगमन की बात स्पष्ट कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा नामक पुस्तक ४ भाग के अन्त मे बहुत सी प्रशस्तियां दी हैं। उनमे देखिये।

श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा।

ह्याचार्य शब्दोत्तरकौण्ड कुन्द:।"

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजातसुचारणर्द्धि:[१]।

"वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द:,

कुन्दप्रभा-प्रणयिकीर्तिविभूषिताश:।

यश्चारूचारणकराम्बुजचंचरीकश्चक्रे—

श्रुतस्य भरते प्रयत: प्रतिष्ठाम्[२]।

"श्रीकोण्ड कुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्सं य—

मादुद्गतचारणर्द्धि:[३]।

······चारित्र संजातसुचारणर्द्धि.[४]।

"तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृतपान—

सतुष्टचित्त श्री कुन्दकुन्दाचार्यणाम्[५]।

इन पांचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारण सिद्धि का कथन है। तथा जैनेद्रसिद्धांत कोश में—२ शिलालेख नं० ६२. ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ० २६३-२६६ कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे। उपरोक्त सभी लेखों से यही घोषित होता है।

४—जैन शिलालेख संग्रह। पृ० १६७-१६८ "रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि संव्यंजयितुं यतीश:। रज: पदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुलं स:।

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रज: स्थान को और भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊंचे आकाश में चलते थे।

उसके द्वारा मैं यों समझता हूं कि वह अन्दर में और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करता हुआ।

"हल्ली नं० २१ ग्राम हेगरे में एक मन्दिर के पाषाण पर लेख-स्वस्ति श्री बर्द्धमानस्य शासने। श्री कुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरंगुलचारणे।" श्री वर्द्धमान स्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष० प्रा०। मो० प्रशस्ति। पू० ३७९ "नामपंचक-विराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिता नाम पंचक विराजित। श्री कुन्दकुन्दाचार्य। ने चतुरंगुल आकाश गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगर में स्थित श्री सीमंधर प्रभु की बंदना की थी।"

भद्रबाहु चरित में राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल मे चारणर्द्धि आदि शक्तियां प्राप्त नही होती अत. यहा शका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि निषेध कथन सामान्य समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि पंचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, तथा पचम काल के आरम्भ मे नही है आगे अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं० जिनराज फडकुले ने मूलाचार की प्र० मे कही है।

ये तो हुई इनके मुनि जीवन की विशेषतायें, अब आप इनके ग्रथों को देखिये—

५. ग्रथ रचनायें—कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड़ रचे, जिनमे १२ पाहुड़ ही उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में सर्व विद्वान एकमत है। परन्तु इन्होंने षट्खंडागम ग्रंथ के प्रथम तीन खंडों पर भी १२००० श्लोक प्रमाण "परिकर्म" नाम की टीका लिखी था, ऐसा श्रुतावतार में इन्द्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है इस ग्रंथ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है।

एवं द्विविधो द्रव्य—
भावपुस्तकगतः समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः
सिद्धांतः कोण्ड कुन्डपुरे॥
श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि
द्वादशसहस्रपरिमाण।
ग्रंथपरिकर्मकर्ता
षट्खडाद्यत्रिखडस्य॥

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त करके गुरू परिपाटी से आये हुए सिद्धांत को जानकर श्री पद्मनंदि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर ग्राम में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्मनाम षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडो की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनायें निम्न है।

षट्खंडागम के प्रथम तीन खडों पर परिकर्म नाम की टीका-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, रयणसार, इत्यादि ८४ पाहुड़, मूलाचार, देशभक्ति, कुरलकाव्य[8]।

इन ग्रथों मे रयणसार श्रावक व मुनिधर्म दोनों का का प्रतिपादान करता है। मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड़ में संक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। कुरलकाव्य नीति का अनूठा ग्रन्थ है। और परिकर्म टीका में सिद्धांत कथन होगा। दश भक्तियों, में सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियों के सरागचरित्र और निर्विकल्पक समाधिरूप बीतरागचारित्र के प्रतिपादक हैं।

६. गुरू—गुरू के विषय मे कुछ मतभेद हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरू थे। कुमारनंदि आचार्य शिक्षागुरू हो सकते हैं। किन्तु प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षा गुरू "श्री जिनचन्द्र" आचार्य थे।

७. जन्म स्थान—इसमे भी मतभेद है—जैनेन्द्र सि० कोश में कहा है—

"कुरलकाव्य। प्र० २१ पं० गोविन्दराय शास्त्री" "दक्षिणोदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्म सीत। एलाचार्यो नाम्नो द्रविड़ गणाधीश्वरो धीमान्।" यह श्लोक हस्त-

लिखित मंत्र ग्रन्थ में से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे। और द्रविड़संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेसीडेन्सी के मलया प्रदेश में "पोन्नूगाँव" को ही प्राचीनकाल में हेमग्राम कहते थे, और संभवतः वहीं कुन्दकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरी पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई है।[९] पं० नेमिचन्द्र जी भी लिखते हैं—"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के संबंध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है······कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म "कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम मे हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम "कुरमरई" भी कहा गया है यह स्थान पेदथ-नाडु" नामक जिले में है।[१०]"

९. समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद है। फिर भी डा० ए० एन० उपाध्याय ने इनको ई० सन प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु आचार्य के अनंतर ही हुये हैं यह निश्चित है क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड़ में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खंडन किया है।

नंदिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।[११]

आपने आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का संक्षिप्त जीवन परिचय देखा है। इन्होंने अपने साधु जीवन में जितने ग्रंथ लिखे है, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है, और लेखन कार्य जंगल में विचरण करते हुये मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आंधी, पानी, हवा आदि में लिखे गये पेजों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असंभव है। इससे यही निर्णय होता है कि ये आचार्य मन्दिर, मठ, धर्मशाला, बसतिका आदि स्थानों पर ही रहते होंगे।

कुछ लोग कह देते हैं कि कुन्दकुन्ददेव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी निराधार है, पहले तो वे संघ नायक महान आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुंचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[१२] में श्री गुप्तिगुप्त, भद्र-बाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पाँचवे पट्ट पर लिया है। यथा—१. श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३. माघनंदी, ४. जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्द, ६. उमास्वामि आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया, पश्चात् इन्होंने उमास्वामि को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नंदिसंघि की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा—"४". जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्दाचार्य, ६. उमा स्वामि।[१३]" इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने "मूलाचार" में "माभूद मेसत्तु-एगागी" मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे" ऐसा कहकर पंचम काल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्म हितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए ऐसे महान जिनधर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुन्द-कुन्ददेव के चरणों में मेरा शत-शत नमोऽस्तु।

□

सन्दर्भ-सूची

१. जेनेन्द्रसिद्धांत कोश भाग २, पृ० १२६
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ० ३६८।
३. पुस्तक वही पृ० ३७४।
४. पु० वही पृ० ३८३।
५. पु० वही ३८७।
६. पु० वही पृ० ४०४।
७. जैनेन्द्र सि० को० भा० २ पृ० १२७।
८. जैनेन्द्र सि० को० पृ० १२८।
९. जै० सि० क० पृ०
१०. तीर्थंकर महावीर पृ० १०१।
११. जैनधर्म का प्राची इतिहास···भाग २ पृ० ८५।
१२. "तीर्थंकर महावीर···" पृ० ३९३।
१६. "तीर्थंकर···पृ० ४४१।

संस्कृत त्रिसंधान (देवशास्त्र गुरु) पूजा

☐ पं० श्री रतनलाल कटारिया

प्रसिद्ध कटारिया ट्रान्सपोर्ट कम्पनी के संस्थापक हमारे चचेरे भाई बाबू सोभागमलजी कटारिया केकड़ी निवासी (अहमदाबाद प्रवासी) का विवाह १६.२.५१ को हुआ था। बारात बसवा ग्राम गई थी वहां का दि० जैन शास्त्र भंडार पुराना है। वहां से हमारे पूज्य पिता जी और पं० दीपचन्द जी पाण्डया ३ प्राचीन हस्त लिखित गुटके लाये थे उनमें से एक गुटका वि० स० १५६३ का है उसमें ६० पत्र हैं। जिनमें संस्कृत-प्राकृत की अनेक रचनायें हैं जो प्राय. शुद्ध हैं। इनमें संस्कृत "त्रिसंधान-पूजा" भी है, यह वही पूजा है जो आजकल देवशास्त्र गुरु पूजा (संस्कृत) के नाम से प्रसिद्ध है। इस 'त्रिसंधान-पूजा' में सात-द्रव्य चढाने पर्यन्त, प्रचलित पद्धति से मात्र इतना अन्तर है कि प्रचलित पद्धति में जहाँ देव-शास्त्र गुरु की स्थापना का पृथक्-पृथक् निर्देश है वहां इसमें पृथक-पृथक पुष्पांजलि क्षेपण कर क्रमशः देव शास्त्र और गुरु की पूजा-प्रतिज्ञा की गई है। इतमे अर्घ का छन्द नही दिया गया है और ना ही अर्घ का विधान है। इससे आगे 'ऋषभोऽजित नामा च···शांति कुर्वन्तु शाश्वती' पर्यन्त पाठ है और उसके बाद—

अथ सिद्धभक्ति—कायोत्सर्ग करोम्यहं ॥

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण ॥ तावकायं पावकम्म दुच्चरिय मिच्छात्त वोस्सरामि। जय नमोऽस्तु ते अर्हन् ॥ अत्र जाप्य उच्छ्वास२७ दत्वा वोस्सामिस्त्यादि सिद्धासिद्धिमम दिसतु ॥

जयमगलभूयाण, विमलाण णाणदंसणमयाण।
तइ लोयसेहराणं, णमो मया सव्वसिद्धाण ॥१॥
तव सिद्धेणयसिद्धे, सजमसिद्धे चरित्रसिद्धेय।
णाणम्मिय, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२।
सम्मत्तणाण दसण, वीरिय सुहुम तहेव अवगहण।
अगुरुलहु मव्वबाहं, अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं ॥३॥
अथ श्रुतज्ञानभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्हद् वक्त्रप्रसूतं, गणधररचितं द्वादशांगं विशालं।
चित्रं बह्वर्थ युक्तं, मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः ॥
मोक्षाग्रद्वारभूतं, व्रतचरणफलं ज्ञेयभावप्रदीपं।
भक्त्या नित्यं प्रवंदे, श्रुतमहमाखिलं सर्वलोकैकसारं ॥१॥
जिनेन्द्र वक्त्र प्रतिनिर्गतंवचो, यतीन्द्रभूतिप्रमुखैर्गणाधिपैः।
श्रुतं धृततैश्चपुनःप्रकाशितं द्वि षटप्रकारं प्रणमाम्यहश्रुतं २
कोटीशतद्वादशचैव कोटयो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानिचैव।
पचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतत् श्रुत पंचपदं नमामि ॥३।
अरहंत भासियत्थ, गणहर देवेहिं गथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तों सुयणाणमहोवहिं सिरसा ॥४॥
अथ आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥
ये नित्यं व्रतमंत्र होमनिरता, ध्यानाग्नि होत्राकुलाः।
षट्कर्माभिरता स्तपोधनधनाः, साधुक्रिया साधनः ॥
शील प्रावरणाः गुणप्रहरणश्चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः।
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः, प्रीणन्तु मां साधवः ॥१॥

गुरवः पान्तु वो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः।
चारित्रार्णवगंभीराः, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥२॥
छत्तीसगुण समग्गे, पंचविहाचारकरण संदरिसे।
सिस्साणुग्गह कुसले, धम्माइरिए सदावंदे ॥३॥
गुरुभत्ति संजमेण य तरंति ससार सायरं घोर।
छिण्णति अट्ठकम्मं, जम्ममरण न पावंति ॥४॥
वउतव सजमु णियमतुणु, सीलु समुज्जलु जासु।
सो वुच्चइ परमायरिउ, वदण किज्जइ तासु ॥५॥
णवकोडितिहिऊणियह, एत्तिउ मुणिहि पवाणु।
तिरयणसुद्धा जेणवहिं, ते प.वहिंणिव्वाणु ॥६॥
मूलगुणहिं जे सजुदा, उत्तरगुणहिं विसाल।
ते हउ चंदाउं आयरिय, तिहुवण तिण्णि वि काल ॥७॥
अट्ठ दी सत्तता छन्नव मज्झम्मि संजदा सव्वे।
अंजलि मउलिय हत्थो, तिरयण सुद्धि नमंसामि ॥८॥
गिम्भे गिरि सिहरत्था, वरिसाले रुक्खमूल रयणीरा।
सिसिरे बाहिर सयणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं ॥९॥

गिरिकंदर दुर्गेषु ये वसंति दिगंबुराः ।
पाणिपात्र पुराहारा स्तः याति परमा गतिम् ॥१०॥
ॐ राकाकारं ज्ञानरस प्राग्भार सुनिर्भर विश्वं विश्वाकारो ल्लास लब्धवैचित्र्य मगाधगभीरं अर्हद्देवं दैवतदेवानामधि-दैवय मेकं सम्यग्भक्तया सम्यग्संप्रति सर्वारंभभरेण यजेऽहं ।

स्वास्ति भगवते, सहज ज्योतिषे स्वस्ति, स्वास्ति सहजानंदाय, अर्हद्देवाय स्वास्ति ॥
मरगय पवाल जडियं, हीरामणि विविह रयण बन्नढं ।
अवहरउ सयल दुरियं, जिणस्स आरत्तियं जयउ ॥१॥
नित्यं श्री शांतिनाथस्य सौधर्मेन्द्रो जिनालये ।
कृत्वा मणिमये पात्रे, कुर्वन्ते मंगला तिकम् ॥२॥
दिप्पन्ति कणयपत्ती, मणहर दिप्पंति रमणपज्जलियं ।
आरत्तियं पयासइ, अमरिन्दो जिणवरिन्दस्स ॥३॥
आरत्तिउ पिक्खउ भवियणउ, सुरवइ करपज्जलउ,
रिसह जिणिदउ उत्तरइ, भुवणुज्जोउ करंतु ॥४॥
भुवणज्जोउ करतु अमरमाणिणि णच्चन्तहं ।
फणवइ इन्द नरिद चंद खयरिन्द णमन्तहं ॥५॥
सुरवईकर पज्जलउ मिलिउ जहि मुणिगण भत्तउ ।
कुमइतिमिर णिद्दलणु, भविय पिरवहु आरजिउ ॥६॥
दीवावलि पज्जलिय लुढिय सुरवइकय हत्थिहु ।
मणिमइ भायानिधरिय फुरिय दीहर सुपमत्थिहं ॥७॥
सहसणयगु विहसन्त वयणु जिणवरि उत्तारइ ।
निय भव भवकय रयतमोहु दूरं उत्तारइ ॥८॥
इहु आरत्तिउ तिहुवणगुरहु सव्वदिट्ठि समभायणु ।
परिभमइ भरमइ सिद्धु कम्मइ णमेरुहितारायणु ॥९॥
भवणालइ चालीसा विन्तर देवाण होंति बत्तीसा ।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरियउ ॥१०॥

॥इति त्रिसंधान पूजा समाप्ता ॥

इस पूजा में मुझे क्या क्या विशेषताएं देखने में आई हैं वे नीचे व्यक्त की जाती है :

१—इस पूजा का नाम रचनाकार ने 'देव शास्त्रगुरु पूजा' न देकर 'त्रिसंधान पूजा' ही दिया है। वैसे त्रिसंधान का आशय यहां देवशास्त्र गुरु से ही है। प्रारम्भ में पूजन प्रतिज्ञा के श्लोकों में भी देवशास्त्र गुरु का ही उल्लेख है, अष्ट द्रव्य के श्लोको मे भी चौथा चरण "जिनेन्द्र सिद्धांत यतीन् यजेऽहं" इसी को व्यक्त करता है। इन्हीं के आधार पर सुगमता की दृष्टि से लोगों ने इस पूजा का नाम "देव शास्त्र गुरु पूजा" रख लिया है किन्तु कवि कृत नाम तो 'त्रिसंधान पूजा' ही है। प्रमाण के लिए इस पूजा का नवमां श्लोक देखिए उसमें स्पष्ट लिखा है—"त्रिसंधान विचित्र काव्य रचना मुच्चार यंतो नराः"। किसी को यहाँ त्रिसंधान का अर्थ समझ में न आने से इसकी जगह 'त्रैसंध्यं, पाठ कर दिया है किन्तु इस छंद के प्रत्येक चरण में १९ अक्षर होते हैं जबकि ऐसा करने से १८ ही रह गये तो विचित्र की जगह सुविचित्र कर दिया लेकिन सु पद यहां बेकार और स्वयं में विचित्र है। इसके सिवा संस्कृत व्याकरण से त्रैसंध्यं रूप कभी नहीं बनता। तिसृणां संध्यानां समाहारः—त्रिसंध्यं ही बनता है। उदाहरण के लिए रत्न करंड श्रावकाचार का श्लोक नं० १३४ देखिये—त्रियोग शुद्ध स्त्रिसंध्यमभिवंदी ॥

अन्त में भी इति त्रिसंधान-पूजा नाम दिया है। त्रि-संधान का अर्थ होता है तीन का मेल। इस पूजा में जो आठ द्रव्यों के ८ श्लोक दिये हैं वे प्रत्येक, देव शास्त्र गुरु तीनों पर सार्थक होते हैं यहां एक तीर से तीन निशाने साधे गए हैं। ऐसी शैली धनंजयकृत द्विसंधान महाकाव्य में देखी जा सकती है जहाँ प्रत्येक श्लोक में रामायण और महाभारत दोनों एक साथ चलते हैं। इसी प्रकार की रच-नाएं 'सप्तसंधान' महाकाव्य और 'चतुर्विंशति-संधान' आदि हैं।

२—इस पूजा के अष्ट द्रव्य श्लोकों को हिन्दी अर्थ रूप मे पं० द्यानत राय जी ने देव शास्त्र गुरु पूजा और बीस बिहरमान पूजा में इसी संधान शैली से अपनाया है उदाहरण के तौर पर देखिये—'जलद्रव्य'

देवेन्द्र नागेन्द्रनगेन्द्र बंदयान् शुंभत्पदान शोभित सारवर्णान्।
दुग्धाब्धि संस्पर्द्धि गुणैर्जलौघैः जिनेन्द्र सिद्धांत यतीन्यजेऽहं
॥१॥ त्रिसंधान पूजा

सुरपति उरग नर नाथ तिनकर बंदनीक सुपदप्रभा,
अति शोभनीक सुवर्ण उज्जवल देख छवि मोहित सभा।
वरनीर क्षीर समुद्र घटभरि, अग्रतसु बहुविधि नचू।
अरिहंतश्रुत सिद्धांत गुरु निर्ग्रन्थ नित पूजा रचू ॥१॥ देव शास्त्र गुरु पूजा (हिन्दी)

इन्द्र फणीन्द्र नरेन्द्र वंद्य पद निर्मलधारी, शोभनीक संसार सार गुण हैं अविकारी।
क्षीरोदधि समनीर सों पूजों तृषा निवार, (सीमंधर जिन आदि दे बीस विदेह मंझार ॥१॥ बीस बिहरमान पूजा

इसी प्रकार से आठों द्रव्यों के श्लोक हैं जिन्हें यहां संस्कृत अर्थ न आता हो वे इन हिन्दी पूजाओं से सरलता के साथ उसे लगा सकते हैं।

३—इस संस्कृत पूजा में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण ये ३ उपचार मंत्र नहीं दिये हैं जबकि वे आजकल बढ़ा लिए गए हैं लेकिन ये कविकृत नहीं हैं। इन उपचारों का प्रयोग प्राचीन अनेक पूजाओं में नहीं पाया जाता। ये उपचार पहिले मांत्रिक लोग सिद्धि में देव-देवियों के लिए प्रयुक्त करते थे। अरहंतादि की पूजा में इनका प्रयोग नहीं था इसी से यशस्तिलक चम्पू और पद्मनंदि पंचविंशतिका के पूजा पाठों में भी इनका प्रयोग नहीं है। इस विषय में नरेन्द्रसेन कृत प्रतिष्ठा दीपक में लिखा है—

साकारादि निराकारा स्थापना द्विविधा मता।
अक्षतादि निराकारा, साकारा प्रतिमादिषु ॥
श्रद्धाघन प्रतिष्ठानं, सन्निधिकरणं तथा।
पूजा बिसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति ॥६१॥
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्ट विध एवोक्तं जलगंधाक्षतादिभिः ॥६२॥

साकार, निराकार दो प्रकार की स्थापना है, प्रतिमा मे साकार होती है अक्षतादि में निराकार। श्रद्धान, स्थापन सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन ये पाँचोंपचार निराकार मे होते हैं साकार में एक अष्टद्रव्य पूजन उपचार ही होता है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में तिलकदान मुख्य विधि है इस विधि में आह्वाननादिमन्त्रों (उपचारों) का प्रयोग कर भगवान की मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। सूरिमंत्र (सूर्य-गायत्रीमंत्र) बाद के हैं। आजकल की हमारी समस्त पूजा विधि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का ही संक्षिप्त रूप है शायद इसी के बाद में इसमें ये उपचार भी सम्मिलित हो गए हों। शास्त्रों में इस हुंडावसर्पिणीकाल में असद्भाव (निराकार) स्थापना का निषेध भी पाया जाता है।

४—इसमें 'जिनाग्रे परिपुष्पांजलि क्षिपेत-इति जिन पूजन प्रतिज्ञा "ऐसा जो लिखा है इसका तात्पर्य तिज्ञा क्रिया को अभिव्यक्त करने के लिए पुष्पक्षेपण बताया है। अनेक जगह पूजापाठ आदि में जो पुष्पक्षेपण का उल्लेख आता है वह इसलिए कि वह इसी तरह किसी क्रिया की अभिव्यक्ति के लिए हैं पुष्पक्षेपण व्यर्थ में नहीं समझना चाहिये।

५—इस संस्कृत पूजा में—जल द्रव्य की बजाय "जल-धारा" शब्द का प्रयोग किया है। अनेक पूजाओं में भी ऐसे पाठ पाये जाते हैं। नन्दीश्वर पूजा में ही देखो "तिहुं धार दई निरबार जामन मरन जरा" इसमें जन्म जरा, मरण के निवारण रूप में तीन जलधारा देना बताया है (यह जल द्रव्य का पक्ष है) इससे एक प्राचीन विधि का समीकरण होता है जैसा कि तिलोय पण्णत्ती गाथा १०४ अधिकार ५ तथा जंबू दीप पण्णत्ती गाथा ११३ उद्देश ५ में जलद्रव्य को स्पष्ट अभिषेक रूप में ही बताया है, अलग जलाभिषेक नहीं बताया है।

६—इसमें अक्षत द्रव्य को पुष्प के पहिले न देकर पुष्प द्रव्य के बाद में दिया है। इस गुटके में नन्दीश्वर पूजा श्रुत पूजा, सिद्ध पूजा भी दी हैं जिनमें भी इसी क्रम को अपनाया है ऐसा क्यों किया है? विद्वान विचार करें। कवि लोग लीक पर नहीं चलते युक्तिबल से अनेक नई ईजाद करते रहते हैं जैसे यशस्तिलक चंपू में सोमदेव सूरि ने पंच पापों मे झूठ को चोरी के बाद दिया है कथा भी इसी क्रम से दी है।

७—इस पूजा में आठ द्रव्यों को चढ़ाने का कोई मंत्र या फल निरुपित नहीं किया है जैसा कि आजकल प्रचलित है :"ओं ह्रीं देवशास्त्र गुरुभ्यः क्षुधा रोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा" आदि

८—इस पूजा में आजकल जो कहीं कहीं कुछ अशुद्ध पाठ प्रचलित हैं और जिनसे संगत अर्थ नहीं बैठता उनकी जगह शुद्ध पाठ दिए हैं। यथा—

श्लोक नं०	प्रचलित अशुद्ध पाठ	इस पूजा का पाठ
१	करालीढकण्ठे	करालीढ कण्ठः
२	श्री सत्कांति	श्री सत्कांत

२	प्रभातकृते	प्रभाकर ते
४	प्रतिष्ठस्य	प्रतिष्ठस्या
पुष्प ३	वर्यान् सुचर्या- कथनैक धुर्यान्	वर्यार्यचर्या कथने सुधुर्यान्
फल ८	मनसाप्य-गम्यान्	मनसामगम्यान्
" "	फलाभिसारैः	फलायसारैः
६	त्रैसंध्यं सुविचित्र	त्रिसधान विचित्र

६—इस पूजा में आजकल प्रचलित अर्धका श्लोक—"सद्वारिगंधाक्षत पुष्पदामैः" नहीं दिया गया है। "ये पूजां जिननाथ शास्त्र यमिनां" इस श्लोक को पुष्पांजलि रूप में दिया है, जबकि आजकल इस श्लोक को आशीर्वाद रूप में दिया है। आशीर्वाद की प्रणाली आधुनिक है इस पूजा में वह नहीं अपनाई है। आजकल अर्घ का अर्थ ८ द्रव्यों का समूह लेते हैं किन्तु पहले अर्ध का अर्थ पुष्पांजलि ही लेते थे जैसा कि सागर धर्मामृत अ० २ श्लोक ३० की सोपज्ञ टीका मे बताया है। पद्मनंदिपंच विंशतिका में भी जिन पूजाष्टक में फल के बाद पुष्पांजलि ही दी है। इस गुटके की अन्य पूजाओं में भी यही शैली दी है।

१०—ऋषभोऽजित नामा च" जयमाला के ये ६ श्लोक नंदीश्वर द्वीप पूजा मे भी पाये जाते हैं उसमें ये वर्तमान कालीव २४ तीर्थकरों के नामो के रूप में दिये है जो वहाँ आवश्यक और सगत हैं क्योंकि वहां भूत भविष्यत कालीन २४-२४ नाम भी दिये हैं अतः वर्तमान कालीन नाम भी आवश्यक हैं जबकि यहा असंगत से हैं।

११—इस पूजा मे आजकल देव शास्त्र गुरु की अलग अलग अपभ्रंश भाषा मे ३ जयमाला दी हुई है वे इस त्रिसंधान पूजा मे कतई नही हैं। "वत्ताणुट्ठाणे···" यह देव जयमाल पुष्पदंत कृत 'जसहर चरिउ' के प्रारम्भ मे पाई जाती हैं वही से उठाकर यहाँ रखी गई है। शास्त्र-गुरु की अपभ्रंश जयमालायें भी इसी तरह अन्यकृत हैं।

१२—इस त्रिसंधान पूजा के कर्ता कौन हैं यह आदि अन्त में कहीं नही दिया है। रचना के मध्य, पुष्पांजलि के श्लोक—"पुष्याढया मुनिराजकीर्ति सहिता भूत्वा तपोभूषण में राजकीर्ति और तपोभूषण इन दो साथी मुनियों का उल्लेख किया है किन्तु रचनाकार का वहाँ भी नाम नही दिया है। चर्चासागर में पांडे चम्पा लाल जी ने इस पूजा के कर्ता श्री नरेन्द्र सेनाचार्य बताये है। एक पं० नरेन्द्रसेन आचार्य 'सिद्धांतसार सग्रह' के कर्ता भी हैं शायद ये नहीं हों तो इनका समय १३ वीं शताब्दी होना चाहिये।

१३—इस पूजा में सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति के प्रसिद्ध लघु पाठ दिए हैं फिर आरती का पाठ दिया है। आरती का पाठ इस गुटके में नन्दीश्वर द्वीप पूजा मे भी दिया है वहाँ विमल नाथ की आरती दी है पाठ भी दूसरा है और यहाँ शांतिनाथ एवं ऋषभदेव की आरती दी है और पाठ भी भिन्न दिया है। ये सब भक्ति और आरती के पाठ आजकल की देवशास्त्र गुरु पूजा में नहीं है। प्रत्येक भक्ति के पहले कृत्य विज्ञापना रूप में कायोत्सर्ग बताया है और फिर भक्ति पाठ बताया है प्राचीन अनेक शास्त्रों (क्रियाकलापादि) में यही पद्धति दी है किन्तु आजकल लोग पहले भक्ति पाठ बोलते हैं फिर उसका कायोत्सर्ग करते हैं पाठ भी ऐसे ही छपे हैं।

आशा है विद्वान पाठक इन पर तुलनात्मक अध्ययन के साथ गम्भीर विचार करेंगे और समाज को नई बातों से अवगत करायेंगे।

पुस्तक-प्रकाशकों से भी निवेदन है कि वे इस त्रिसंधान पूजा को अविकल रूप से पूजापाठ सग्रहों में अवश्य स्थान देने का उपक्रम करेंगे।

विक्रम स० १५६३ के इस गुटके मे १५ वीं शताब्दी के चन्द्र भूषण के शिष्य पं० अभ्रदेव की ८० श्लोक की श्रवण द्वादशी कथा" भी संकलित है। यह सुन्दर संस्कृत भाषा में रचित है और प्रायः शुद्ध रूप में दी हुई है। अगर विज्ञपाठकों ने रुचि प्रदर्शित की तो उसे भी प्रकट किया जावेगा।

दिनांक १८.६.८४ रतनलाल कटारिया
केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)
३०५४०४

टिप्पण—'जैन हितैषी भाग ५ (सन् १९०८) अंक २ पृ० १०-११ पर श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—'काष्ठासंघी श्रावकों में अक्षत से पहिले पुष्प पूजा का रिवाज है। अग्रवाल नरसिंह मेवाड़ा आदि थोड़ी सी जातियां इस संघ की अनुगामिनी हैं। मूल संघ और काष्ठ संघ के श्रावक एक-दूसरे के मंदिरों में आते-जाते हैं और प्रायः एक ही आचार-विचार में रहते हैं।"

आत्म अनुभव कैसे हो ?

□ श्री बाबूलाल जी वक्ता,

पहले आत्मा के बारे में जानकारी करे उसे शास्त्रों के द्वारा, जिसमें उसका वर्णन है वहाँ से जाने। परन्तु यह समझकर चलना होगा कि अभी आत्मा के बारे में जाना है अभी आत्मा को नहीं जाना है। आत्मा को जानना औरआत्मा के बारे में जानना इसमें बहुत बडा अन्तर है। जिन्होंने आत्मा के बारे में जानने को ही आत्म-ज्ञान समझा है वे आत्मा को नहीं जान सकते और आत्मा के बारे में जो जानकारी करी है उसका अहकार भी पैदा हुए बिना नहीं रहेगा। वह पण्डित विद्वान हो सकता है आत्म ज्ञानी नहीं। आत्म ज्ञानी होने के लिए आत्मा को जानना जरूरी है। आत्मा के बारे में जानना थ्योरीकल ज्ञान है। आत्मा को जानना प्रेक्टिकल ज्ञान है।

आत्मा के बारे में जानकर अन्तरंग मे उसके लक्षण को पकड़कर पहचानने की चेष्टा करे। शरीर मे मिलान करें। जाननापना लक्षण शरीर में नहीं है। आत्मा का लक्षण चैतन्यपना है याने ज्ञाता-दृष्टापना है। वह लक्षण किसी अन्य में नहीं है। फिर मन सम्बन्धी विकारी परि-णामों का अथवा विकल्पों का समझना है। तीन कार्य एक साथ हो रहे हैं एक शरीर का एक विकारी भावों का और एक जानने का। उस जानने वाले को पकड़ने का उपाय यह है कि हम ऐसा सोचे कि दस मिनट तक शरीर में जो भी क्रिया होगी उसे हमें देखते रहना है। वह हमारी जानकारी मे होनी चाहिए जैसे कि हमें किसी को बताना है कि दस मिनट शरीर की क्या क्या क्रिया हुई और ऐसी क्रिया होनी चाहिए अथवा अन्य प्रकार की होनी चाहिए इसका सवाल नही है। यह भी सवाल नही है कि यह ठीक हुई कि ठीक नहीं हुई। सवाल है हमारी जानकारी में हो और दस मिनट तक बराबर देखने का कार्य चालू रखे तो कुछ रोज में आप पायेंगे कि देखने वाला और शरीर की क्रिया यह दो कार्य हैं और देखने वाले से शरीर की क्रिया भिन्न है। यह प्रेक्टिकल पकड़ में आना चाहिए, जब ऐसा पकड़ में आयेगा तब जानने वाला अलग हो जायेगा।

इसी प्रकार मन में जो भी विकल्प उठते हैं अथवा क्रोधादि भाव होते हैं वहाँ पर भी दस मिनट के लिए हमें उन विकल्पो को देखना है जैसे हमे किसी को बताना है अथवा कागज पर नोट करना है, ऐसा सोचकर चले। यहाँ पर भी मन को शांत कर देना चाहिए। अच्छा विकल्प हुआ अथवा बुरा हुआ इसका सवाल नही है। सवाल है जो भी विकल्प उठे वह हमारी जानकारी में हो और उसको देखने पर जोर रखे। अगर यह अभ्यास किया जाए तो विकल्प अलग हो जाएगा और जानने वाला अलग हो जायेगा। फिर विकल्प और शरीर की क्रिया में अपना अस्तित्व नही मालूम देगा। अपना सर्वस्व तो जानने वाले मे स्थापित करना है। इस प्रकार दोनों से अलग हटकर जानने वाले मे अपना सर्वस्व स्थापित करने पर वह तो ज्ञान का मालिक हो जाता है और वे दोनों कर्म का कार्य रह जाते हैं।

इसी के बारे में कहा है कि ज्ञप्ति क्रिया और करोती क्रिया दो हैं। भिन्न २ है यद्यपि एक ही समय मे है फिर भी दोनो के कारण अलग अलग हैं जो ज्ञाता है वह करता नहीं और जो करता है वह ज्ञाता नहीं अर्थात् जो जानने वाला है वह विकल्पों का करता नही और विकल्पों के करने में लगा है वह ज्ञाता नहीं है।

जानने का कर्म ज्ञान का है मन के विकल्प और भाव और शरीर की क्रिया कर्म के खाते में है। ज्ञान का कार्य भी है कर्म का कार्य भी है। तू ज्ञान का मालिक है, कर्म का मालिक नही है। ज्ञान को जानने वाले को ही कहा जा रहा है कि अपने को भुला कर तू कर्म के कार्य का, कर्म का मालिक बना है। उसमें एकत्व मान है उसमे अहम्

बुद्धि की है। उस अज्ञानता का फल यह संसार है। इसी अज्ञानता से तूने कर्म का निर्माण किया है। अगर आनन्द को प्राप्त करना है तो कर्म का मालिक न बनकर ज्ञान का मालिक बन जा जो तू वास्तव मे है। तब तेरा अज्ञान दूर हो जायेगा और जिस अज्ञानता से कर्म का निर्माण होता था वह नही रहने से कर्म का निर्माण नही होगा। पुराना कर्म अपना रस देता जा रहा है और खत्म होता जाता है तू अपने ज्ञान के रस का पानकरता रह और कर्म कर्म के रस का स्वाद मत ले। धीरे धीरे जो इकट्ठा कर्म है वह खत्म हो जाता है तब कर्म का कार्य शरीरादिक और विकल्पादि का अभाव होकर मात्र जो तू है, वह रह जाता है यही परमात्मापना है। तू अगर ज्ञान का मालिक नही है तो तूने विकल्पों और शरीर के साथ एकत्व स्थापित किया है इसलिये उन विकल्पो का कर्ता तू ही है और अगर ज्ञान का मालिक है तो विकल्पो का कर्ता कर्म तू नही है। जो मालिक है वही कर्ता है। ज्ञान भी है कर्म भी है तू चाहे ज्ञान मे एकत्व कर सकता है। जिससे तेरा एकत्व है। चाहे कर्म से जोड़ ले परन्तु कर्म के साथ तेरा एकत्व नही है. तू वह नही है।

इस प्रकार अनुभव करने के लिए पहल ज्ञान को जो बाहरी इन्द्रियों में फैला हुआ है और बाहर की तरफ जा रहा है उसको बाहर से हटाकर, इन्द्रियो से हटाकर, अपने स्वरूप के सन्मुख करें। फिर उस ज्ञान को मन सम्बन्धी विकल्पो से हटाकर स्वरूप सन्मुख करें। और अपने में अपने को ही ज्ञेय बनाये तब फल ज्ञानरूप अनुभव में आता है। मन को विकल्पो से शून्य करना है जहाँ विकल्पों से शून्य हुआ वहा आत्मसंवेदन हो जायेगा। जैसे जब बाहर में गाय को चाटने को नहीं रहता तो वह अपने को ही चाटने लग जाती है।

इस जीव ने दोनों तरफ ही गलती की है। बाहर मे भी और भीतर में भी। बाहर में कहा गया कि जिसकी मूर्ति है उनको देख जिसमें मूर्ति है उसको मत देख। वहाँ पर तू जिसमें मूर्ति थी उस पाषाण अथवा सोने चांदी को देखने लगा। और इसलिए जिसकी मूर्ति थी उसको नहीं देख सका। भीतर में कहा कि जिसमें मूर्ति है उसको देख जिसकी मूर्ति है उसको मत देख। जिसका ज्ञान में आकार है ज्ञेय का आकार हो रहा है। उस ज्ञेयाकार को मत देख, ज्ञानाकार को देख जो तू है। वहाँ पर ज्ञेयाकारों को देखकर क्षुब्ध हो गया। जहाँ ज्ञेयाकार हैं वही ज्ञानाकार भी है।

पहले मन को शात करे बाहर फैलते हुए को संकुचित करें जब उपयोग शान्त होगा उस समय स्वांस चलता हुआ प्रगट दिखाई देने लगेगा, अनुभव में आयेगा उस समय देखने वाले पर जोर देने पर यह शरीर पृथक् दीखने लगेगा। सवाल पृथक् कहने का विचारने का नही परन्तु पृथक् देखने का है। जहाँ ज्ञाता पर दृष्टि जाती है विकल्प आधे-अधूरे ही रुक जाते हैं। यह तो निषेधात्मक रूप है परन्तु ज्ञानानुभूति होने पर शरीर भी दिखना रह जाता है। इसका काल कम है परन्तु शरीर का प्रकट पृथक् दीखना इसका काल बहुत है।

देखना है कि शरीर रहते हुए इसमे अपनापना आ रहा है कि परपना आ रहा है अगर अपनापना आ रहा है तो अज्ञानता पड़ी है अगर परपना आ रहा है तो अज्ञानता नही रह सकती। अगर यह अपने रूप दीख रहा है तो ससार गाढा हो जायेगा। राग गाढा हो जायेगा अगर पर रूप दीख रहा है तो ससार क्षीण होने लगेगा। राग छूटने लगेगा।

क्रोधादि-रागादि के दूर करने का उपाय भी यही है जहा क्रोध को जानने की चेष्टा की जानने वाले की मुख्यता हुई कि क्रोध विलय होने लगा। अगर घोड़े पर चढ़े हुए हैं और घोड़े को अपने आधीन कर रखा है तब भी पर मे लगे हैं परन्तु अगर उससे नीचे उतर गये तो अपने मे है। क्रोधादि को दबाने से वे नही मिटते।

एक व्यक्ति दूसरे की छाती पर बैठा है तब भी पर में लगा है। पर के आधीन है। और दूसरा अगर उसकी छाती पर बैठा है तब भी पराधीन है स्वाधीनता तो तभी हो सकती है जब वह अलग खड़ा है। व्यक्तियों से कुश्ती नहीं लड़नी है परन्तु उसके साथ एकत्व छोड़कर अलग हटकर उनको देखना है। यह देखना ही उनसे अलग कर देता है। भीड़ में खड़े हैं, भीड़ मे से दृष्टि हटाकर अपने को देखिये अलग हो जायेंगे।

यह देखना यह सम्यक् देखना ही—देखने वाला बना रहना ही धर्म का मूल है यही से धर्म की शुरूआत होती है।

'शाहनामा-ए-हिन्द' में जैनधर्म

□ शायर-फरोग नक्काश

'शाहनामा-ए-हिन्द' के रचयिता ६१ वर्षीय फरोग नक्काश नागपुर की मोमिनपुरा नामक बस्ती में रहते हैं। आपने 'शहनामा-ए-हिन्द शीर्षक से हिंदोस्तान के इतिहास को अशआहों (शेरों) में ढाला है। दुनिया में यह अपने किस्म का पहला काम है। यह सम्पूण इतिहास ईसा पूर्व ६ठी शती से लेकर आज तक का है। शाहनामा-ए-हिन्द में कुल ३० हजार शेर होंगे, जिनमें से कुछ लिखना अभी बाकी हैं। फरोग नक्काश को इस कार्य के स्वरूप अनेक संस्थाओं ने, "फिरदौसी-ए-हिंद", "कौमी एकता" आदि उपाधियों से नवाजा है।

पेश है 'शाहनामा-ए-हिन्द' (जो उर्दू में लिखा है) से जैन धर्म से संबंधित शेर, जो उनकी अनुमति से हिंदी में डा० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम पेश कर रहे हैं :—

एक अर्सा बाद ही इस खाक[1] पर वो दौर भी आया।
कई अद्यान[2] का परचम[3] बड़ी तेजी से लहराया ॥१॥
बहोत से तायफों[4] में बट गए थे मजहबी[5] फिरके।
अवामुन नास[6] मे होते थे इन अद्यान के चर्चे ॥२॥
इन्हीं फिरकों में, दो फिरके हैं ऐसे वाकई बरतर[7]।
हवादिस[8] का कसौटी पर जो उतरे है खरे बनकर ॥३॥
है जिनमें सबसे अव्वल[9] जैन मजहब बौद्ध है सानी[10]।
हुई दाखिल नए एक दौर में तारीखे[11] इंसानी ॥४॥
वहुत से तेगजन फिरके[12] पुरानी रस्म बिदअत से[13]।
हुए ताइब[14], चले नेकी की जानिब शौके रगबत से[15] ॥५॥
ये क्षत्री कोम, ज्यूं-ज्यूं इस तरफ होती गई रागिब।
हुई मगलूब[16] फिक्रे बिरहमन जैनी हुए गालिब[17] ॥६॥
सबब इन मजहबों के फूलने-फलने का यह भी था।
के इनके अब्ब[18] मे मजबूत था एक हुक्मरा तबका[19] ॥७॥
यही थो वजह जिससे दोनों मजहब खूबतर फैले।
सनातन-धर्म को इनकास[20] जिनकी वजह से पहुंचे ॥८॥

जैन धर्म का सहर तीन (तीन रत्न)

मुशाबेह[21] हैं बहोत काफी ये दोनों धर्म आपस में।
बहोत कम फर्क है तरकीबे अद्याने मुकद्दस[22] मे ॥१॥
ये साबित हो चुका है जैन मजहब ही पुराना है।
श्री गौतम से पार्श्वनाथ का पहले जमाना है ॥२॥
दिगर इसके अकीदा[23] जैन वाले ये भी रखते हैं।
के तेईस तीर्थंकर, वर्धमां[24] से पहले गुजरे हैं ॥३॥
हैं पहले पार्श्वनाथ जी इस धर्म के तेइसव शंकर[25]।
दुखी जीवन को सुख पहुंचाने वाले मोहसिनो[26] रहबर[27] ॥४॥

लिया था जन्म इस ईसा ने एक क्षत्री घराने में ।
ना ऐसी पारसा हस्ती कोई भी थी उस जमाने में ॥५॥
दिया उपदेश लोगों को इन्होंने तीन बातों का ।
मिटाया फर्क पहले अपने नीच-ऊंच जातों का ॥६॥
कहा लोगों से, इजा[35] जानदारों को न पहुंचाओ ।
करो मुतलक[36], न चोरी लग्वियत[31] से बाज आजाओ ॥७॥
ये तीनों रास्ते, जैनी जिसे, से रत्न[32] कहते हैं ।
इन्हीं अच्छे उसूलों के वो सब पाबंद रहते हैं ॥८॥

महावीर स्वामी वर्धमान

ये सच है 'वर्धमां' है अस्ल में इस धर्म के बानी ।
न इसके बाद फिर पैदा हुआ उनका कोई सानी ॥१॥
ये छह सौ साल पहले इब्ने मरियम[33] के हुए पैदा ।
वैशाली में हुआ था जन्म, पटना के करीब उनका ॥२।
ये क्षत्री कौम के एक मुक्तदर[34] राजा के थे दिलबद[35] ।
श्री गौतम के जैसे उनके भी हालात थे हरचद ॥३॥
उन्होंने तीस साला उम्र में घर बार को छोड़ा ।
निशात-आमेज[36] दौरे जिंदगी से अपना रुख मोड़ा ॥४॥
हुए शामिल वो पार्श्वनाथ के चेलों के मण्डल में ।
गिरोही[37] शक्ल में फिरते रहे सूनसान जंगल में ॥५॥
मगर मुतलक न पाई, रुह और दिलने तमानि नत[38] ।
के ठुकराया था, जिसकी जुस्तजू में ऐश और राहत ॥६।
लिहाजा हट गए दामन बचाकर खार जारों से ।
निकाली आत्मा की नाव तूफांखेज धारों से ॥७॥
फिर उसके बाद बारह साल तक इतनी रियाजत[39] की ।
के मिलती ही नहीं ऐसी मिसाल अब इस्तिकामत[40] की ॥८॥
उन्हें फिर ज्ञान, तेरहवें बरस आखिर हुआ हासिल ।
मिला निर्वाण, याने मिल गई लाहुत[41] की मंजिल ॥९॥
फिर उनके गिर्द मजमा लग गया, हल्का बगोशों का[42] ।
शरावे-मारफत[43] के पीने वाले बादा नोशों का ॥१०॥
कि अपने धर्म की तबलिग[44] चारों सिम्त फिर-फिरकर ।
अहिंसा और नेकी का सबक, देते रहे घर-घर ॥११॥ (क्रमशः)

संदर्भ-सूचि

१ धरती २. धर्म ३ झंडा ४. गुटो ५. धर्म के . आम जनता ७. बहुत अच्छे ८. काल चक्र ९. पहला १० दूसरा ११. इतिहास १२. तलवार चलाने वाला १३. धर्म में नई बात १४. तौबा करके १५. अभिरुचि १६. आकर्षित १७. पराजित १८. विजेता १९. पीछे २०. गुट २१. नुकसान २२. मिलते-जुलते २३. बहुत पवित्र २४. धर्म २५. वर्धमान २६. तीर्थंकर २७. एहसान करने वाला २८. रहनुमा २९. दुख-तकलीफ ३०. झूठपन ३१. बुरी बात ३२. तीन रत्न ३३. ईसा पूर्व ३४. बहुत बड़े ३५. बेटा ३६. ऐशो आरामी जिंदगी ३७. गिरोह, गुट ३८. चैन ३९. तपस्या ४०. दृढ़ता ४१. ब्रह्म लीनता की अवस्था ४२. चाहने वालों का ४३. ईश्वर की चाहत की शराब ४४. प्रचार ।

राजस्थान के मध्यकालीन जैन गद्य लेखक

□ श्री रीता जैन

हिन्दी साहित्य में गद्य का आविर्भाव संवत् १६०० से माना जाता है लेकिन राजस्थान के जैन साहित्यकारो द्वारा संवत् १७०० में हिन्दी गद्य में रचनायें होने लग गई थी। उनकी रचनायें हस्तलिखित होने से अज्ञात रही है, इसीलिए अब तक विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया अन्यथा हिन्दी गद्य का आविर्भाव २०० वर्ष पूर्व से ही माना जा सकता है। यहां उन गद्य लेखकों का व उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिन्होंने हिंदी गद्य में रचनायें प्रस्तुत की है—

१. **हेमराज**—हेमराज का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में सांगानेर (जयपुर) में हुआ था। ये पांडे स्वरूपचन्द के शिष्य थे। अपने अन्तिम दिनों में ये कामां चले गये दे। इन्होंने पद्य व गद्य दोनों में रचनायें की। इनकी निम्नलिखित गद्य रचनायें हैं—

१. प्रवचनसार भाषा (माघ शुक्ला ई· सं० १७०६)
२. गोम्मटसार भाषा (सं० १७२१)
३. परमात्मप्रकाश भाषा (सं० १७१६)
४. पंचास्तिकाय भाषा (सं० १७२१)
५. नयचक्र भाषा (स० १७२६) ६ समयसार भाषा

२. **दौलतराम**—दौलतराम बसवा के रहने वाले थे, परन्तु बाद में जयपुर में रहने लग गये। उनके पिता का नाम आनंदराम था। वह जाति से कासलीवाल गोत्री खण्डेलवाल थे ऋषभदास जी के उपदेशों से दौलतराम जी को जैनधर्म पर विश्वास हुआ और कालान्तर में यह विश्वास अगाध श्रद्धा के रूप मे परिणित हो गया।

दौलतराम ने गद्य व पद्य दोनो मे ही रचनाये की हैं। कवि के रूप मे भी ये श्रेष्ठ है और गद्यकार के रूप मे भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन्हें रामप्रसाद निरजनी के पश्चात् खड़ी बोली का दूसरा श्रेष्ठ गद्यकार माना है। इनकी निम्नांकित गद्य रचनायें हैं—

१. क्रिया कोषभाषा (माघ शुक्ला १२ सं० १७९५)
२. पद्मपुराण भाषा (माघ शुक्ला ६ सं० १८२३)
३ हरिवंशपुराण वचनिका (चैत्र शुक्ला १५ सं० १८२९)
४. आदि पुराण भाषा ५. श्रीपाल चरित्र भाषा
६. परमात्म प्रकाश भाषा ७ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका
८. पुण्याश्रव वचनिका ९. उपासना ध्यान की टब्बा टीका

३. **श्रीटोडरमल**—इनका जन्म जयपुर की प्रसिद्ध जैन खण्डेलवाल जाति में गोदी का गोत्रीय वैश्य परिवार में सं० १७९७ में हुआ। इनके पिता का नाम जोगीदास एवं माता का नाम रंभावाई था। ये दैवी प्रतिभा के धनी थे। अल्पायु मे ही ये बड़े-बड़े सैद्धान्तिक ग्रंथों का गूढ़ रहस्य समझने लगे। शीघ्र ही व्याकरण, न्याय, गणित आदि विषयों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया तथा संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी भाषा के अधिकृत विद्वान बन गये। उनकी इस विद्वता का प्रभाव राजसभा में भी अच्छा हुआ। उन्हें सम्मानित पद मिला। इससे तत्कालीन ईर्ष्यालु लोगों को इनसे ईर्ष्या हुई। कहा जाता है कि इस ईर्ष्या-द्वेष का इतना भयंकर परिणाम हुआ कि ज्ञान के उदीयमान सूर्य को अल्पकाल में ही काल-कवलित होना पड़ा।

टोडरमल द्वारा रचित गद्य-कृतियां निम्नांकित हैं:—

१ सम्यक् ज्ञान चन्द्रिका २ त्रिलोकसार वचनि ३का आत्मानुशासन वचनिका ४ मोक्षमार्ग प्रकाशक (मौलिक ५ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका ६ रहस्यपूर्ण चिट्ठियां।

इनके गद्य का नमूना दृष्टव्य है:—

'आपको सुखदायक उपकारी होय ताको इष्ट कहिए। सो लोक मे आपका दुःखदायक अनुपकारी होय ताको अनिष्ट कहिए। सो लोकमें सर्व-पदार्थ अपने-२ स्वभाव ही कर्ता हैं।'

४ **दीपचन्द**—दीपचन्द सांगानेर के रहने वाले थे। कालान्तर में ये आमेर आकर रहने लगे। इनकी सभी रचनाएं १८ वीं शताब्दी के अन्त की हैं। ये आध्यात्मिक

(शेष पृ० २१ पर)

जैन कला और स्थापत्य में भगवान पार्श्वनाथ

☐ नरेन्द्र कुमार जैन सोंरया एम० ए० शास्त्री

भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर हैं। जैनकला और स्थापत्य में भगवान पार्श्वनाथ का विशेष स्थान है। प्राचीन शिलालेखों, ग्रंथों, मन्दिरों तथा मूर्तियों के द्वारा इनकी महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है। भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म ८७७ ई० पू० हुआ था।[1] प्राचीनकाल में काशी मध्यवर्ती जनपद था। काशी देश में वाराणसी नामक नगरी थी। राजा अश्वसेन वहां के राजा थे[2] पिता अश्वसेन और माता वम्मिला (वामा) से पौषकृष्ण एकादशी के दिन विशाखा नामक नक्षत्र में आपका जन्म हुआ था।[3]

(पृ० २० का शेषांश)

ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे एवं सांसारिक लोगो से उदास रहते थे। यद्यपि इनकी भाषा ढूंढारो है तथापि टोडरमल जयचन्द आदि विद्वानों की भाषा की अपेक्षा सरस और सरल है। इनकी निम्ननांकित रचनाए उपलब्ध है:—

१. आत्मावलोचन २. चिद्‌विलास ३. अनुभव प्रकाश वचनिका ४. गुणस्थान भेंट ५. आध्यात्म पच्चीसी ६. द्वादशानुप्रेक्षा ७. परमात्मपुराण ८. उपदेश रत्नमाला ९. स्वरूपानन्द वृहद् तथा लघु १०. भारती।

५. **अजयराज:**—ये दिगम्बर जैन श्रीमाल थे। अन्तः-साक्ष्य के आधार पर इनके निवास स्थान तथा अन्य पारिवारिक जानकारी नही मिलती है। इनकी भाषा शैली के आधार पर एव जयपुर के जैन विद्वानो से सम्पर्क करने पर केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि ये जयपुर के थे एवं इनका समय सवत् १७०० के आसपास था। इनकी निम्न-लिखित गद्य कृतियां उपलब्ध है:—

१. विषापहार स्तोत की वचनिका २. चतुर्दश गुण स्थान चर्चा वचनिका ३. कल्याण मंदिर भाषा टीका ४. एकीभाव स्तोत की भाषा।

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
दयानन्द महिला महाविद्यालय,
अलवर (राज०)

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म जहाँ हुआ था, वह स्थान वर्तमान में भेलूपुर नामक मौहल्ला के रूप में वाराणसी में जाना जाता है। यहां दो मन्दिर बने हैं[4] मुख्य-वेदी पर तीन प्रतिमायें विराजान हैं उनमें तीसरी प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है। सिर पर फण तथा पीठिका पर सर्प का लाक्षन है तथा लेख अंकित है। लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा संवत १५६८ में हुई थी[5] पीछे वाम आले में दो दिगम्बर प्रतिमायें हैं[6] मूर्ति लेख के अनुसार इनका प्रतिष्ठाकाल वि० सं० ११५३ है। इसी के साथ दूसरी मूर्ति कृष्ण पाषाण की पद्मासन मुद्रा में भगवान पार्श्वनाथ की है जो कि अत्यन्त मनोज्ञ है।[7]

ग्वालियर नगर तेरहवीं शताब्दी में गोपाचल पर्वत के नाम से प्रसिद्ध था[8] यह क्षेत्र जैन कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से पाँचवी शताब्दी का प्रसिद्ध है। यहां पर भगवान पार्श्वनाथ की ४२ फीट ऊंची ३० फुट चौड़ी शातिशय मनोज्ञ प्रतिमा हैं। संसार की यह दुर्लभ मनोज्ञ कलाकृति है।[9]

औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से ३० कि०मी० दूर एलोरा नामक ग्राम है। यहां से स्थित गुफाओं के कारण यह स्थान विख्यात है। यहाँ पर कुल ३० गुफायें हैं। इन्हीं गुफाओं मे गुफा नं० ३० से आधा किमी० दूर की ऊंचाई पर पार्श्वनाथ मन्दिर है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। पुरातत्व विभाग के अनुसार ये गुफायें ९वी शताब्दी की हैं।[10]

बुन्देलखण्ड के जैन तीर्थों में श्री दि० जैन अ० क्षेत्र बड़ा गाँव प्रसिद्ध है। वैसाख बदी ८ सं० १९७८ को यहां स्थित टीले की खुदाई कराई गई जिसमें १० दि० जैन प्रतिमायें निकली, जिनमें ७ पाषाण की तथा तीन धातु की हैं[11] पाषाण की प्रतिमाओं पर (दो को छोड़कर) मूर्ति लेख है उनसे ज्ञात होता है कि इन प्रतिमाओं में कुछ बारहवी शताब्दी की थी। कुछ सोलहवीं की। यहां शिखर

बन्द मन्दिर है जिसमें वेदी में भ० पार्श्वनाथ की श्वेत-पाषाण की पद्मासन प्रतिमा है। प्रतिमा सौम्य तथा चित्ता-कर्षक है।[१२] मन्दिर के चारों ओर चार वेदियां हैं। दक्षिण वेदी पर मूलनायक भ० विमलनाथ की भूरे पाषाण की प्रतिमा मुख्य है।[१३] इसी वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की एक श्वेत पाषाण की मूर्ति है यह पद्मासन है, हाथ खण्डित है इस पर कोई लेख नहीं है। पलिस कहीं कही उतर गया है यह मूर्ति भगवान विमलनाथ के समकालीन लगती है। ( )[१४] पश्चिम की वेदी पर भी भगवान पर्श्वनाथ की श्वेत पाषाण की हाथ अवगाहना वाली पद्मासन प्रतिमा है।[१५]

स्थानीय संग्रहालय पिछोर (जिला—ग्वालियर) की स्थापना, सन् १०७६-७७ ईस्वी में म० प्र० शासन द्वारा की गई थी। इसमें ग्वालियर एव चम्बल सम्भाग के विभिन्न स्थानों से मूर्तियां एकत्रित की गई। जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव एवं जैनधर्म से सम्बन्धित प्रतिमायें हैं[१७] इसी संग्रहालय में मालीपुर से प्राप्त दो प्रतिमायें तीर्थंकर भग० पार्श्वनाथ की है। प्रथम प्रतिमा योगासन मुद्रा में पाद-पीठ पर स्थित है। सिर पर कुन्तलित केशराशि ऊपर सप्तफर्ण नागमौलि की छाया है। पादपीठ पर दाये, बाये, यक्ष, धरणेन्द्र एवं यक्षणी पद्मावती के चिन्ह अंकित हैं।[१७] दूसरी पार्श्व नाथ की प्रतिमा में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। छठी शताब्दी ई० पू० में इन मूर्तियों की स्थापना करन्दक नरेश ने स्थापित कराई थी।[१८]

मथुरा में उत्खन से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा का शीर्ष भाग मिला है। इस प्रतिमा के शिरोभाग के ऊपर सप्त फणावली हैं घुंघराले कुन्तलो का विन्यास अत्यन्त कला पूर्ण है। प्रतिमा कुषाण युग की होगी[१९] ऐसी मान्यता है। एक दि० जैन मन्दिर स्थित है। मुख्यवेदी मे भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। यह श्वेत पाषाण की पद्मासन है अवगाहना १५ इन्च है। मूर्ति लेख के अनुसार वि० सं० १६६४ की है।[२०] इसी वेदी में कृष्ण पाषाण की १८ इन्च ऊंची पद्मासन प्रतिमा है, इस मूर्ति पर लेख नही है लेकिन इनके साथ जो सत्तरह मूर्तियां हैं उन पर वि० सं० १५५५ अंकित है।[२१] इस वेदी के पीछे वाली वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है[२२] यह प्रतिमा मथुरा बृन्दावन के बीच चिरौरा गांव के समीप-वर्ती अक्रूरधार के पास दि० १६-८-१९६६ को भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। इसके पीठासन पर संवत १८९ अंकित है। यह प्रतिमा कुषाण काल की है। इसी प्रतिमा की दायी ओर की वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की श्वेतपाषाण की की प्रतिमा विराजमान है।[२३]

दिल्ली कलकत्ता राजमार्ग पर स्थित उत्तर रलवे स्टेशन पर प्रयाग नामक तीर्थस्थल है। यही चाहचन्द मोहल्ला सराव गियान में एक उन्नत शिखर से सुशोभित पार्श्वनाथ पंचायती मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण नौवीं शताब्दी में हुआ। इस मन्दिर की वेदी के मध्य में मूलनायक भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिसका सलेटी वर्ण है।

उत्तर प्रदेश के बरेली जिले एवं आंवला तहसील के पास अहिच्छत्र नामक स्थान है। यहां स्थित प्राचीन क्षेत्र परवायी ओर एक छोटे गर्भ गृह में वदी है जिसमें तिर-खान वाले बाबा (भगवान पार्श्वनाथ) की प्रतिमा विराज मान है। प्रतिमा सौम्य एव चित्ताकर्षक है। प्रतिमा का निर्माण काल १०-११वी शताब्दी अनुमान किया जाता है।[२४]

बुन्देलखण्ड में जैन तीर्थ के रूप मे खजुराहो एक रम-णीक एवं मनोहर प्रसिद्ध स्थान है। खजुराहो के जैन-मन्दिरों का निर्माण चन्देल नरेश ने नवी और बारहवी शताब्दी मे कराया।[२५] ९-१० वी शताब्दी मे आर्यसेन के शिष्य महासेन तथा उनके शिष्य चादिराज ने त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया, उसमे तीन वेदियो मे त्रिभुवन के स्वामी भगवान शान्ति नाथ, पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां बनवाकर प्रतिष्ठापित की और उसके लिए जमीन तथा मकान स०१०५४ के बैशाख मास की अमावस्या को दान दी।[२६]

श्रीनगर गढ़वाल में एक प्राचीन दि० जैन मन्दिर अनक नन्दा के तट पर है इस मन्दिर मे केवल एक वेदी है जिस पर तीन प्रतिमायें विराजमान हैं। मूलनायक भग-वान बान ऋषभदेव और दो प्रतिमायें भगवान पार्श्वनाथ

(शेष पृ० ३२ पर)

विचारणीय प्रसंग :—

दो पर्यायवाची जैसे शब्द

[परिग्रह और कर्म]

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

जैन-सस्कृति के मूल मे निवृत्ति का विधान और प्रवृति का निषेध है। निषेध इसलिये कि प्रवृत्तिमें समन्ततः शुभ या अशुभ कर्मों का ग्रहण होता है और कर्मों का ग्रहण संसार है। जबकि निवृत्ति मोक्ष साधिका है। यदि गहराई से विचारा जाएतो प्रवृत्ति स्वय भी परिग्रह है और परिग्रह में कारणभूत भी है। इसीलिए तत्वार्थ सूत्र के षष्ठम अध्याय के प्रथम सूत्र मे 'कायवाङ् मनः कर्म योगः' जैसी प्रवृत्ति (क्रिया) को अगले सूत्र 'स आस्रवः' से आस्रव बतला दिया; जो कि संसार का कारण है। यदि प्रवृत्ति शुद्धता मे कारण होती तो प्रवृत्ति-परक प्रथम सूत्र को आस्रव में गर्भित न कर, अगले सवर या निर्जरापरक प्रसंगो में दर्शाया गया होता। इस प्रसंग में हमे परिग्रह की परिभाषा पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए—

शास्त्रो में परिग्रह शब्द की दो व्युत्पत्तियां देखने में आती हैं।

(१) 'परिगृह्यते इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादि।'

(२) 'परिग्रह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहण-हेतुरात्मपरिणामः।"

—धवला १२/४/२ ८ ६ पृ० २८२

अर्थात् जो ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है जैसे बाह्य-पदार्थ क्षेत्रादि। और जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है, जैसे रागादिरूप आत्मा के वैभाविक परिणाम।

उक्त दोनो व्युत्पत्तियों में द्वितीय व्युत्पत्ति से फलित अर्थ आचार्यों को अधिक ग्राह्य रहा है, अपेक्षाकृत प्रथम व्युत्पत्ति-फलित अर्थ के। इसीलिए उन्होंने परिग्रह के लक्षण में मूर्छा (ममेदं-रागद्वेषादि रूप परिणामों) को प्रधानता दी है। क्योंकि रागादि-प्रवृत्ति ही बाह्य आदान-प्रदान में कारण है और यही प्रवृत्ति कर्मास्रव और बन्ध में भी प्रमुख कारण है। आचार्य का भाव ऐसा भी रहा है कि भव्यजीव प्रवृत्ति को छोड़ें और निवृत्ति की ओर बढ़ें। इसी प्रसग में तनिक हम व्रतों की परिभाषाएं भी देख लें कि वहाँ आचार्यों ने निवृत्ति का उपदेश दिया है या प्रवृत्ति का? हमारी समझ से तो निवृत्ति का ही उपदेश है। तथाहि—

'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरति व्रतम्' यह तत्त्वार्थ सूत्र के सप्तम अध्याय का प्रथम सूत्र है। इसमें हिंसा आदि से विरक्त होने का निर्देश है। कदाचित किसी भांति भी कही भी प्रवृत्त होने का निर्देश नहीं है। वे कहते हैं—हिंसा से विरक्त होना, असत्य से विरक्त होना, स्तेय से विरत होना अब्रह्म से और परिग्रह से विरत होना 'व्रत' है। वे यह तो कहते नहीं कि अहिंसा में रत होना सत्य मे रत होना आदि व्रत है। फलितार्थ यह है कि जब हिंसादि परिग्रह छूट जायेगे तब अहिंसादि स्वयं फलित होंगे। यदि जीव उन फलीभूत अहिंसादि में प्रवृति करता है—रति करता है तब भी उसको परिग्रह से छुटकारा नहीं मिलता। अन्तर मात्र इतना होता है कि जहाँ वह अशुभ मे था वहाँ शुभ में हो गया। यदि जीव शुद्ध होना चाहता है तो अशुभ से विरत हो जाय और शुभ में भी प्रवृत्त न हो। आपसे आपमे ही ठहर जाय।

जहा प्रवृत्ति होती है वहां परिग्रह होता है—आस्रव होता है। व्रत नही होता। और जहां निवृत्ति होती है वहां परिग्रह का बोझ हलका होता है और पूर्ण निवृत्ति में वह भी छूट जाता है। जो जीव जितने अंशों में रक्त होगा उतना ही परिग्रही होगा और जितने अंशों में विरक्त होगा उतने अंशों में अपरिग्रही होगा। कहा भी है—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।'

—समयसार १५०

फलतः जब कोई भव्यात्मा संसार से उदास होकर आत्म-कल्याण की ओर बढ़ना चाहे और गुरु के पादमूल

में दीक्षा लेने आय तो गुरु का कर्तव्य है कि वे उसे 'निवृत्ति' रूप व्रत का उपदेश दें—आस्रव व बंधकारक क्रियाओं से 'विरत' करें। उसे कुछ ग्रहण करने को न कहें। पर परिपाटी ऐसी बन गई है कि 'आप व्रत ग्रहण कर लें, कहकर उसे व्रत दिए जाते हैं। जबकि आगमानुसार व्रत का लक्षण 'विरत' होना है, अपरिग्रही होना है। रत होना नहीं। ये जो कहा जा रहा है कि—'अमुक ने महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण किए' सो यह सब व्यवहार भाषा है, इसका तात्पर्य है कि वह उन उन पापों से विरक्त हुआ—उसकी उन पापों से रति छूटी। न वह कि पुण्य में रत हुआ।

ये बात हम नहीं कह रहे। आखिर, आचार्य देव ने निवृत्ति को स्वयं ही व्रत का लक्षण बताया है। तथाहि :

'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।'

—तत्त्वार्थ ७।१

'सर्वनिवृतिपरिणामः।' पर. प्र. टी. २.५२।१७३।५

'समस्त शुभाशुभ रागादिविकल्प निवृत्तिर्व्रतम्।'

—द्र. सं० टी. ३५।१००।१३

'देशसर्वतोऽणुमहती।'

देशश्च सर्वश्च ताभ्यां देशसर्वतः। विरतिरित्यनुवर्तते।

हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रत, सर्वयोविरति महाव्रतम्।

न हिनस्मि नानृतं बदामि नादत्तमाददे नागनां स्पृशामि न परिग्रहमुपाद दे' इति।' —त. रा. वा. ७/२/२

ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतम्।'—भ. आ.

—वि. ४२१/६१४/११/पृष्ठ-६३३ कोष

निरत:कार्तस्न्यनिवृतौभवतियतिः समयसारभूतोऽयं।

या त्वेक देशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥'

—पुरुषार्थ ४१

'अप्रादुर्भावः खलुरागाद्दीनां भवत्यहिंसा।'

—पुरु. ४४

'पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहि ।

अपरिमिदिच्छादोविय अणुव्वयाइं विरमणाई ॥'

भ. आ. मूला. २०८०/१८१६ पेज ६३५

'हिंसाविरदी सच्चं अदत्त परिवज्जणं च बंभं च।

संग विमुत्ती य तहा महव्वया पंचपण्णत्ता ॥

—मू. आ. ४

—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति सर्वनिवृत्ति-परिणाम, समस्त शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से निवृत्ति, देश-विरति सर्व-विरति, पापों से विरमण, कृत्स्न (पूर्ण) निवृत्ति एकदेशविरति, रागादि का अप्रादुर्भाव, प्राणवधादि से विराम, हिंसादि परिवर्जन अथवा उनसे विमुक्ति, आदि। उक्त सभी स्थलों मे विरति की प्रधानता है। कहीं भी अहिंसादि में प्रवृत्ति का विधान नहीं है जैसा कि कहा जाता है—'मैंने या उसने अहिंसादि व्रतों को ग्रहण किया है या कर रहे हैं। ये सब जीवों के अनादि रक्त—रागी-परिणामों का ही प्रभाव है जो हम छोड़ने की जगह गृहण करने के अभ्यासी बन रहे हैं—जब कि जिन या 'जैन' का धर्म विरक्ति (शुद्धता की ओर बढ़ने) का धर्म है। 'जिन' स्वय भी सब छोड़े हुए है। देखें 'नियमसार'—

कुल जोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊणजीवाण।

तस्सारंभणियत्त—परिणामो हांई पठम बद। ५६॥

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।

जा पजहदि साहु सया विदिवयं होई तस्सेव ॥५७॥

गामे बा णयरे वा रण्णे वा पच्छिऊण परमत्थ।

जो मुचादिग्रहण भाव तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५८॥

ददूण इच्छिरुव' वांछाभाव णिवत्तदे तासु।

मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

सव्वेसिं गथाणं चागो णिरवेक्खभावणा पुव्व।

पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभर वहतस्स ॥६०॥

—नियमसार

—कुल, योनि, जीव समास, मार्गणा आदि जीवो के ठिकानों को जानकर उनमें आरम्भ करने से हटना अहिंसाव्रत है।

जो सज्जन पुरुष राग द्वेष व मोह से झूठ के परिणामों को जब छोड़ता है तब उसके सत्यव्रत होता है।

दूसरे के द्वारा छोड़ी या दूसरे की वस्तु को (चाहे वह ग्राम नगर, वन आदि मे कहीं भी पड़ी हो) उठाने के परिणाम को जो छोड़ता है उसके अचौर्य व्रत होता है।

जो स्त्री के रूप को देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होने रूप परिणामों को हटाता है। उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है।

जो वाछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागता है उसके अपरिग्रह व्रत होता है।

—उक्त गाथाओं मे आचार्य ने सभी जगह पाप छोड़ने को व्रत कहा है। जब कि वर्तमान में ग्रहण करने में व्रत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जैसे 'अमुक व्रत ग्रहण कर लीजिए, आदि।

'ग्रंथ' शब्द को भी परिग्रह के भाव में लिया जाता है: जिसमे ग्रंथ नहीं होता उसे 'निर्ग्रंथ' कहा जाता है। ग्रंथ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे लिखा है—'ग्रथन्ति रचियन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथाः। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानं, असंयम; कषायाः योगत्रय चेत्यमी परिणामाः।'

भ. आ. वि./४७/४१/२०

—जो ससार को गूथते है, अर्थात जो ससार की रचना करते हैं, जो संसार को दीर्घकाल तक रहने वाला करते हैं, उनको ग्रंथ कहना चाहिए। तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, असयम, कषाय, मन-वचन-काययोग इन परिणामों को आचार्य ग्रंथ कहते है। इन ग्रंथो का त्यागी निर्गन्थ कहलाता है और वह अपरिग्रही नाम से भी पहिचाना जाता है। दोनो के ही परिग्रह-त्याग-रूप व्रत होता है—कुछ ग्रहण रूप नही। क्योकि व्रत का लक्षण 'विरत' है न कि 'रत' होना।

यदि कोई जीव शुभ मे भी रत होता है तो वह परिग्रह का वैसा पूर्ण त्यागी नही होता जैसे कि 'जिन' अर्हन्त भगवान।

—तात्पर्य ऐसा कि जो पूर्ण-व्रती (विरत) होगा—वही अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ होगा। उसके पूर्व यदि किसी को निर्ग्रन्थ कहा जायगा तो वह उपचार ही होगा। मुनियों के भेदों में 'पुलाकबकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातका-निर्ग्रन्थाः' में भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवल ज्ञान दर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः।' के अभिप्राय में है। अर्थात जो अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त होते हैं। यानी जिनकी आत्म-घाती कर्म प्रकृतियाँ क्षय प्राप्त करने के सन्मुख होती हैं वे निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही होते हैं।

—उक्त भाव में, जहां कर्मों से राहित्य अर्थ है वहां हमें परिग्रह और अपरिग्रह शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी विशदता से विचार करना चाहिए जिससे हम परिग्रह के सही भाव को फलित कर सकें और जिसकी विरति मे व्रत का भाव फलित हो सके।

यदि आचार्य चाहते तो 'परिग्रह' शब्द को केवल 'ग्रह' शब्द से भी व्यक्त कर देते। क्योंकि इस शब्द की जो व्युत्पत्ति ऊपर पैरा २ मे दी गई है और उससे जो अर्थ फलित किया गया है वह अर्थ केवल 'ग्रह' शब्द से भी फलित हो सकता था। जैसे—'गृह्यते इति ग्रहः—बाह्य पदार्थ'।' अथवा 'गृह्यते येन स ग्रह—रागादिः।' पर आचार्य ने 'परि' उपसर्ग लगाकर अध्यात्म मे कुछ और ही दर्शाना चाहा है—ऐसा मालूम पड़ता है। शायद वे चाहते हैं कि हम बाहरी पदार्थों की उठाधरी की चर्चा के विकल्पों में न पड़ें और आत्मा और उसमे लगी कर्म-कालिमा को देखें—उसका और अपना भेद-विज्ञान करें तथा कर्मों से विरति लें, उनमे विरत हों, अपरिग्रही बनें।

कर्म ग्रहण परिग्रह हैं और इसकी सिद्धि परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति से फलित होती है?

'तत्वार्थसूत्र' के आठवें अध्याय के २४ में सूत्र में प्रदेश बन्ध को बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि 'सूक्ष्मैक क्षेत्रा-वगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः'—इसकी व्याख्या में राजवार्तिककार लिखते हैं—'सर्वात्मप्रदेशेष्विति-वचनमेक प्रदेशाद्यपोहार्थम्'—एकद्वित्रिचतुरादि प्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशा न प्रवर्तन्ते, क्वतर्हि? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति प्रदर्शनार्थम् सर्वात्म प्रदेशेष्वित्युच्यते।'

इसका भाव है कि कर्म आत्मा के सर्व प्रदेशो में स्थित होते हैं और वे पूरी आत्मा के द्वारा सर्व ओर से आकर्षित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ – जैसे अग्नि में तपा लोहे का सुर्ख गोला यदि पानी में डाला जाए तो वह पानी को सभी ओर से सम-रूप में आत्म-सात करता है, वैसे ही कषाय और योग की अग्नि से तप्त-आत्मा कर्मरूप परिणत-कार्माण वर्गणाओं को सभी ओर से सम रूप मे आत्मसात करता है। कर्म के सिवाय ऐसी अन्य कोई वस्तु नही है जिसे आत्मा चारों ओर से अपने मे आत्मसात करे और जिससे चारों ओर से आत्मसात किया जाय—ग्रहण किया जाय।

(शेष पृ० २६ पर)

जरा-सोचिए !

१. मूल का संरक्षण कैसे हो ?

—आपने पढ़ा होगा नाम-कर्म की ६३ प्रकृतियों को। उनमें एक प्रकृति है 'स्वघात-नामकर्म।' इस प्रकृतिके उदय में शरीर की ऐसी रचना होती है, जिसमे स्व-शरीर के अंग ही स्व-प्राणघात मे निमित्त हो जाते है। जैसे बारहसिंगे के सीग। यदि कदाचित बारहसिंगा जब कभी शिकारी के घात से भाग जाने के लिए वन मेदौडता है, तब उसके सीग घनी कंटीली टेढ़ी-मेढी झाडियो मे फस जाते हैं और वे सीग ही बारहसिंगा के स्वय के प्रयत्न से उसके स्वयं के पकड़े जाने या वध मे निमित्त हो जाते है। यह एक दृष्टान्त है जो शायद हमारे स्वयं से प्रचारित किए प्रयत्नो पर लागू होता है।

सब जानते हैं कि जैनियो ने बहुत समय से आगमो की प्राचीन भाषा प्राकृत-संस्कृत को उपेक्षित कर केवल आधुनिक सुललित अन्य विभिन्न भाषाओ के रचनामाध्यमों से धर्म के लेन-देन की प्रथा चालू कर रखी है। ये प्रसंग मात्र जैनेतरों और विदेशियो हेतु उपस्थित हुए होते तो कदाचित इतनी चिन्ता न होती, पर आज तो जैन कुलोत्पन्नों को भी आगमो की मूल भाषाओ से लगाव नहीं रह गया है और न इसका कोई प्रयत्न ही किया जा रहा है कि हमारी वर्तमान और आगामी पीढ़ी प्राकृत-संस्कृत भाषाओं की ओर आकृष्ट हो। अब तो लोगों को उनकी सहूलियतों के अनुसार धर्म के लेन-देन के प्रयत्न रह गये हैं। जो इन भाषाओं को नहीं जानते वे जन्मन: जैन हों या अजैन सभी को भाषान्तर (चाहे वे गलत ही क्यों न हों) दिये जा रहे हैं। अर्थात—

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।'—

पाठक जानते है समयसार की १५ वी गाथा के उस अर्थ-प्रसग को जिसके 'अपदेस' और 'सन्त' शब्द आज भी सु-संगत अर्थ को तरस रहे हैं। कही 'संत' के स्थान पर 'मुत्त' मानकर द्रव्य-श्रुत और भावश्रुत अर्थ स्पष्ट है तो कही 'अपदेस' और 'सत' के अर्थ क्रमश 'प्रदेश-रहित' और 'शान्त (रस) किए जा रहे हैं और कही 'संत' के अर्थ को 'सत्' शब्द से घोषित कर उसे आचार्य-समत व प्रामाणिक बतलाया गया है। इसी तरह 'अनादिरक्तस्य तवायमासीत य एव सकीर्णरस: स्वभाव। मार्गावतारे हठमार्जित श्री स्त्वयाकृत. शान्तरस. स एव।।'—कारिका मे 'शान्तरस' का अर्थ कही 'शान्त (नामा) रस' और कही 'रसों से शान्त—रहित' अर्थ किया जा रहा है, आदि। ढूंढने पर ऐसे ही अन्य बहुत से प्रसंग और भी मिल जाएंगे जिनकी व्याख्याओ में विवाद हो।

ऐसे विवादास्पद स्थलों का कालान्तर में भी निर्णय कब और कैसे हो सकेगा ? जबकि आगम की मूल प्राकृत और संस्कृत भाषाओ को ही भुला दिया जायगा या हमारे सामने उनके मनमाने ढंग के परिवर्तित मूलरूप रख दिए जायेंगे ? हमारी दृष्टि से विषय-स्पष्टता और उसकी प्रमाणिकता के लिए आगमकी मूल-भाषा प्राकृत-संस्कृत व यथा सम्भव-पूर्वाचार्योक्त उपलब्ध उनकी व्याख्याओं का और मूल भाषा के जानकारों का कालान्तर में सदाकाल रहना परमावश्यक है। जबकि आज के नेताओं (?) की दृष्टि

(पृ० २५ का शेषांश)

ऐसा यदि है तो वह कर्म ही परिग्रह है। तथाहि—

परि (समन्तात्) गृह्यते य: स: परिग्रह:-द्रव्य-कर्म।

परि (समन्तात्) गृह्यते येन स: परिग्रह:—भाव-कर्म।

उक्त भाव में अपरिग्रह और व्रत के अर्थ भी विचारिए और निर्ग्रन्थ पर भी ध्यान दीजिए।

—वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

□□

दोनों ही दिशाओं में उदासीन है—वे मात्र भाषान्तरों (जिनसे कहीं २ भाव-स्खलित भी होता है) के प्रचार में लगे हैं और भविष्य के लिए जैन-सिद्धांत-मर्मज्ञ विद्वानों के उत्पादन-प्रयत्नो में भी शून्य हैं।

इस बात को दृढ़ता के साथ कहने मे हमे तनिक भी संकोच नहीं कि—आयु के किनारो पर बैठे सिद्धान्त के धुरन्धर गिने-चुने वर्तमान विद्वानों के बाद इस क्षेत्र में अंधेरा ही अंधेरा होगा। और हम नही समझ पा रहे कि तब सिद्धांत के किन्ही रहस्यो को समझने-समझाने के लिए हम किसका मुँह देखेंगे ?

यद्यपि प्रचलित प्रयत्नों से ऐसा आभास तो होता है कि भविष्य मे हमें लच्छेदार-मोहक भाषा-भाषी अच्छे व्याख्याताओं की कमी तो न रहेगी—वे सभा को मोहित भी कर सकेंगे तथापि आगम की मूल भाषा और जैन-दर्शन-न्याय के रहस्यों से अपरिचित होने और आद्यन्त मूल ग्रंथों के पठन'पाठन से शून्य होने के कारण उनमें सिद्धांत के रहस्यों को उद्घाटित करने की क्षमता दुर्लभ होगी। फलत:—आवश्यकता है—

प्रचार करने की अपेक्षा आज मूल के संरक्षण और उसके तल-स्पर्शी ज्ञाताओं को तैयार करने की। आप इस दिशा मे क्या कर रहे हैं ? जरा सोचिए ?

२. क्या दिव्य-ध्वनि स्याद्वाद-रूप है ?

"सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदय।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण सभवदि ॥"—
तात्पर्यवृत्ति'—आदेसवसेण प्रश्नोत्तरवशेन।
बालबोधनी—विवक्षा के वश से ॥"
—पचास्तिकाय, १४

"कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥'
वृत्ति:—नयस्यवक्तुरभिप्रायस्य योगो युक्ति—
नैग्रयोगस्तस्मान्नययोगादभिप्रायवशादित्यर्थ: ।"
आप्तमीमांसा १४

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि स्याद्वादरूप— विविधनय—रूपी कल्लोलों से विमल है, ऐसा पढ़ने में आता है, जैसे—'यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला।' और यह भी पढ़ने में आता है कि जिनवाणी गणधर देवों द्वारा गूंथी गई। जैसे—

'तीर्थंकर की धुनि गणधर ने सुनि अंगरचे चुनिज्ञान मई।
सो जिनवर वाणी शिवसुखदानी त्रिभुवनमानी पूज्य भई ॥'—आदि।

ये तो सब जानते हैं कि सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्ण और युगपत है। वह निर्विकल्पक और विचार रहित भी है। उसमें समस्त द्रव्यों की भूत-भविष्यत् और वर्तमान-कालीन समस्त-पर्यायें अस्तिरूप में स्वाभाविक, युगपत् झलकती हैं—उसमें अपेक्षावाद के अवसर और कारण दोनों ही नहीं हैं। क्योंकि अपेक्षावाद श्रुतज्ञान पर आधारित हैं और वह नयाधीन भी है—वह सकलप्रत्यक्ष केवल ज्ञान की उपज नही है। इस बात को ऊपर दिए गए उद्धरणों से भी स्पष्ट जाना जा सकता है। उनमे 'आदेशवसेण' और 'नय-योगात् न सर्वथा' पद इसी बात को स्पष्ट करते हैं। फलत: सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि मे उनके ज्ञान के अनुरूप द्रव्यो का त्रैकालिक प्रत्यक्ष-अस्तित्व ही झलकता है—उसमें नास्तित्व के झलकने का प्रश्न ही नही उठता। अर्थात वे, जो है, उसे जानते हैं, नही, नामक कोई पदार्थ ही नहीं जिसे वे जान सके या जानते हों। स्याद्वाद का नहीं भी अपेक्षा कृत ही है और वह समय के व्यवहार की दशा में है जबकि केवल ज्ञान में तीनों कालों की विवक्षा ही नहीं है—सभी युगपत है। एतावता ऐसा मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि जिसे हम जिनवाणी कहते हैं और जो 'स्याद्वाद-रूप कही जा रही है वह पूर्ण-श्रुत ज्ञानी गण-धरों द्वारा विविध नयों के सहारे द्वादशांगों में गूंथे जाने पर 'स्याद्वाद रूप' में फलित होती है। यानी गणधर देव वस्तु के समस्त अशो को युगपत न जान पाने के तथा न कह पाने के कारण अपेक्षा के द्वार क्रमश: उसका दोहन करते है—और उस दोहन-प्रकार को 'स्याद्वाद' कहा जाता है। भाव ऐसा समझना चाहिए कि—जिनवर की दिव्य-ध्वनि में जिन भगवान के द्वारा कोई अपेक्षा कल्पित नहीं की जाती—उनकी ध्वनि अपेक्षावाद स्याद्वाद रहित ही होती है। और श्रुतज्ञानी गणधरों द्वारा, अक्षरो द्वारा प्रकट

किए जाने पर 'स्याद्वाद रूप' कहलाती है। कहा भी है :—

'ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणों।' केवलिन: परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं" न किमपि वर्तनम् अत: स भगवान न च चेहते मन: प्रवृत्तेरभावात् अमनस्का केवलिन:' इति वचनाद्वा।

—नियमसार

'ठाणनिसेज्जविहारा धम्मुभवदेसं णियदओतेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारव्व इत्थीणं॥

—प्रवचनसार

वीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान के कोई भी वर्तन इच्छा पूर्वक नही होता है। इसलिए वे भगवान मन की प्रवृत्ति के अभाव होने पर 'अमनस्का: केवलिन:' इस सिद्धांत के अनुसार कुछ क्रिया स्वयं नहीं करते। आगम में जो योग की प्रवृत्ति के निमित्त से प्रकृति व प्रदेशबंध कहा है सो उपचारमात्र है। खड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहंत अवस्था के काल में स्वत: नियम से ही होता है, जैसे स्त्रियों के नियम से मायाचार होता है। आदि। फलत:—

ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि —तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि भव्यजीवों के भाग्योदय से उनकी स्वय की जिज्ञासा के अनुरूप उस-उस भाव में परिणत हो जाती है। और प्रमाण (पूर्णज्ञान) रूप दिव्य-ध्वनि (नय-आंशिकज्ञान) गर्भित होने से श्रुतज्ञानी गण धरो द्वारा मन के साहचर्य से स्याद्वादरूप मे फलित की जाती है। इस विषय को सोचिए और निर्णय पर पहुंचने के लिए विचार दीजिए।

३. मूल जो सदा कचोटती रहेगी!

वे रूढियां जो सदियों से चली आ रही हैं और जिन्होने धर्म के मूल-रूप को आत्मसात कर लिया है—ढक लिया है, इतनी गाढी हो गई है कि उनका रग सहज छटने का नहीं। ऐसी रूढ़ियों में एक रूढ़ि है अपरिग्रह को उपेक्षित कर 'अहिंसा को मूल जैन-संस्कृति' प्रचारित करने की।

यूं तो संसार के सभी मत-मतान्तर हिंसा को पाप और अहिंसा को धर्म बतलाते हैं। पर, जैनी इसमें सबसे आगे हैं। जब कभी कहीं अहिंसा का प्रसंग उठता है, जैनी बांसों उछलते हैं और गर्व के वेग में कहते हैं कि— जैनियों द्वारा मान्य अहिंसा सर्वोपरि है जहां दूसरों में अहिंसा के व्यवहारिक रूपों को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है वहां जैन इसके मूल तक पहुंचे हैं उन्होंने संकल्पित, कृत कारित, अनुमोदित, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति-रूपों में भी हिंसा के त्याग को अहिंसा कहा है और 'सम्यग्योग निग्रहोगुप्ति का उपदेश दिया है, आदि। नि:संदेह जैनियों की अहिंसा पर सबको गर्व है। पर, इस गर्व में कहीं सब इतने तो नहीं फल गए हैं कि उनके द्वारा जाने-अनजाने में जैन संस्कृति के मूल अपरिग्रह पर ही चोट हो रही हो?

जैनियों में पांच पाप माने गए हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। यद्यपि इन पांचों में परस्पर में कारण-कार्य भाव घटित हो सकता है और एक का दूसरे में समावेश भी हो सकता है। परन्तु यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचारे तो सब पापो के मूल में परिग्रह ही अभिन्न कारण बैठा दिखाई देता है। पूर्ण-अपरिग्रही (शुद्ध आत्मा) मे कोई भी पाप नहीं बनता। आचार्यों ने भी जीव-राशि को जिन दो भागों में बांटा है वे संसारी और मुक्त जैसे दोनों भाग भी हिंसा-अहिंसा आदि पर आधारित न होकर परिग्रह-भाव और परिग्रह-अभाव की अपेक्षाओं से ही हैं जो जीव परिग्रह मे हैं वे ससारी और जो अपरिग्रही हैं वे मुक्त। फलत:—हमें मूल पर दृष्टि रखनी चाहिए।

सब जानते हैं कि शास्त्रों मे कारण और कार्य दोनों को सर्व-मान्य तथ्य कहा है और जैन-दृष्टि से दोनो ही अनादि है। कारण भी किसी का कार्य है और कार्य भी किसी कारण के बिना नहीं होता। उक्त परिप्रेक्ष्य में जब हम तत्त्वार्थसूत्र-गत 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपणं हिंसा' इस हिंसा के लक्षण को देखते हैं तब स्पष्ट होता है कि प्राणो के व्यपरोपण रूप कार्य हिंसा है और प्रमाद उस हिंसारूप कार्य का कारण है, यानी—बिना प्रमाद के हिंसा नही बन सकती। इसी प्रकार झूठ आदि पापों में भी

प्रमाद की कारणता है। और प्रमाद को परिग्रह कहा गया है। फलतः परिग्रह की मुक्ति से ही सर्व पापों और संसार से मुक्ति मिल सकती है और इसलिए हमें सर्व-प्रथम मूल कारण परिग्रह को कृश करना चाहिए। लोक में भी कहावत है कि 'चोर को मत मारो चोर की जननी को मारो।' जननी मर जायगी तो चोरों की संतान परम्परा स्वयं समाप्त हो जायेगी।

जब तीर्थंकर महान थे उन्होंने परिग्रह से मुक्त होने के लिए, परिग्रह की पहचान के हेतु स्व-पर भेद-विज्ञान करने को सर्वोपरि रखा। उन्हें स्व-से आत्मा और 'पर' से परिग्रह अर्थ लेना इष्ट था। क्योंकि संसार या कर्म-रूप परिग्रह से छुटकारा पाए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती थी और स्व पर भेद-विज्ञान के बिना परिग्रह को भी नहीं जाना जा सकता था। यही कारण था कि स्व-पर भेद-विज्ञान की सीढ़ी पर पग रखते दीक्षा के समय ही उन्होंने सर्व सावद्य उन पाप जनक क्रियाओं से किनारा किया, जिनके मूल में प्रमाद (परिग्रह) बैठा हो। शास्त्रो मेंअवद्य का अर्थ गर्ह्य या निन्द्य कहा है (गर्ह्यमवद्यम्'—राजवा-७।६।२ और निन्द्य सहित जो भाव अथवा क्रिया है वह सर्व ही 'सावद्य' है। उक्त प्रकाश में केवल हिंसा ही नहीं अपितु सभी पाप 'अवद्य' हैं और कारणरूप प्रमाद (परिग्रह) सभी के साथ है—ऐसा सिद्ध होता है।

शास्त्रों में जहां भी सावद्यको हिंसा जनक क्रियाओं के भावमात्र में गृहण किया गया है वहां स्थूल दृष्टि से 'आत्म-घात' के 'घात' शब्द को लक्ष्य करके ही किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। क्यो कि घात और हिंसा एकार्थक जैसे हैं। कोषकारों ने अवद्यऔर सावद्य के जो अर्थ दिए हैं वे सभी पांचों (पापों) के लक्ष्य में दिए हैं। अतः इन शब्दों को मात्र हिंसा से ही जोड़ना और अन्य पापो पर लक्ष्य न देना किसी भी भांति ठीक नहीं है। देखें—

अवज्ज (अवद्य)

(क) मिथ्याकषाय लक्षणे (आ. म. प्र.) गर्ह्य, कम्म-वज्जं जं गर-हिय् ति कोहाइणो व चतारि—यत गर्हित निन्द्य कर्मानुष्ठानं अथवा क्रोधादयश्चत्वारों अवद्य, तेषां सर्वावद्य हेतुतया कारणे कार्योप्रचारात्। अभि. रा. कोष.

(ख) अवज्ज-अवद्य, पाप, निन्दनीय।
—पाइय सद्द० महृ०

सावज्ज (सावद्य)

(क) अवद्यं पापं सहावद्येन वर्तत इति सावद्यः, सहावद्येन गर्हितकर्मणा हिंसादिना वर्तत इति; हिंसादिदोषयुक्ते;

गरहियमवज्जमुत्तं, पावं सहतेण सावज्जं ।३४६६।
अहवेहज्जणिज्जं, वज्जं पावं ति सहसकारस्स।
दिग्घता देसाओं सहवज्जेणं ति सावज्जं ॥ ३४६७॥

—हिंसाचौर्यादिगर्हितकमलिम्बने; गर्हितकर्मयुक्ते; मिथ्यात्व लक्षण कषायलक्षणं सह सावद्यो नाम कर्म बन्धो अवज्जं सह जो सो सावज्जो। जौगोत्ति वा वावारोत्ति वा एगट्ठा; सावज्जयणुचिट्ठं ति वा पावकम्ममासेवितं ति वा वितहमाइन्नं ति वा एगट्ठा सावज्जमणायवणं असोहिट्ठाणं कुसीलसंसग्गा एगट्ठा। —अभि० रा० को०

(ख) सावजन-सावद्य, पापयुक्त, पापवाला।
—पाइअसद्दमहण्णव।

ऐसे ही जहां कही प्रमाद को हिंसा के नाम से संबोधित किया गया है वहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि वहां 'अन्नं वै प्राणः' की भांति कारण में कार्य का उपचार मात्र है। अन्यथा यदि प्रमाद स्वयं सर्वात्मना हिंसा होता तो आचार्य इस ममत्व-रूप प्रमाद को 'मूर्छा परिग्रहः' से इंगित न कर 'मूर्छा हिंसा' इस रूप में सूत्र कहते। यदि और गहरी दृष्टि से देखा जाय तो यह फलितार्थ भी निकाला जा सकता है कि जब प्रमाद (पन्द्रह या अनेक भेद) सर्वात्मना हिंसा में गर्भित हो जाते हैं तब परिग्रह के लिए तो (अध्यात्म में) कुछ शेष रह ही नहीं जाता, पाप चार ही रह जाते हैं। फर्क मात्र इतना रह जाता है कि कभी पार्श्व के—चार पापों के परिहार रूप माने गए चार यामों मे (जो वस्तुतः न्याय संगत नहीं ठहरते) ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में गर्भित किया गया था। और यहां प्रमाद (मूर्छा) रूप परिग्रह को हिंसा मे गर्भित कर भ० महावीर और चौबीसों तीर्थंकरों के पंच महाव्रतों की मर्यादा को भंगकर चार पाप मानने का प्रच्छन्न प्रयत्न

बन रहा है। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों की अवहेलना हो रही है। अस्तु:

अपने विषय में हम यह भी जानते हैं कि परिग्रह पहले ही हमसे बहुत कुछ रुष्ट हैं—हम अकिंचन जैसे हैं; अब हमारी परिग्रहकृपता—त्याग जैसी बात से कतिपय परिग्रही दीर्घ संसारी बहु परिग्रही भी कुछ रुष्ट हो सकते हों—(जिसकी हमें आशा नही) फिर भी हमें इसकी चिंता से कहीं अधिक चिंता आगम मार्ग रक्षा और समाज में 'मूल-जैन संस्कृति अपरिग्रह' को अक्षुण्ण रखने की है; जिसकी उपेक्षा कर आज कुछ लोग अधिकाधिक संग्रही बनने की होड़ में अहिंसा के नाम पर मौज उड़ाने के अभ्यासी हो रहे हैं—भोगोपभोग में मग्न रहकर भी धर्म-ध्यानी बनना चाहते हैं। मोक्ष चाहते हैं। ऐसी सभी क्रियाएंउन्हें पर-भव में मंहगी पड़ सकती है; इस भव में तो धर्म का ह्रास देखा ही जा रहा है।

काश हमने अपरिग्रह को अपनी मूल-संस्कृति मानते रहने का अभ्यास किया होता और परिग्रह (तृष्णा) के क्षीण करने को प्राथमिकता दी होती तो परिग्रह संचय करने से हमारे मन और दोनों हाथों को ब्रेक भी लगा होता और अहिंसादि (त्याग रूप) व्रतो का निर्वाह भी हुआ होता, हम जैनी पहले की भांति लोक-प्रतिष्ठित भी रहते और हमारा कल्याण भी निकट होता—व्यवहार में शायद हम निकट-भव्यों की श्रेणी में भी होते। जरा सोचिए ! तथ्य क्या है ?

४. क्या हम श्रावक निर्दोष हैं ?

मुनि-पद की अपनी विशेष गरिमा है और इसी गरिमा के कारण इस पद को पंच परमेष्ठियों में स्थान मिल सका है—'णमो लोए सव्वसाहूण।'—जब कोई व्यक्ति किसी मुनिराज की ओर अंगुली उठाता है तो हमें आश्चर्य और दुख दोनों होते हैं। हम सोचते हैं कि यदि हमें अधिकार मिला होता तो हम ऐसे निन्दक व्यक्ति को अवश्य ही 'तनखैया' घोषित कर देते जो हमारे पूज्य और इष्ट की निन्दा करता हो। आखिर, हमें सिखाया भी तो गया है कि—"मुनिराज का पद ही गरिमापूर्ण है।" क्या हम यह भी भूल जायें कि—"मुक्तिमात्र प्रदानेन का परीक्षा तपस्विनां" वाक्य हमारे लिए ही है और सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा उपगूहन अंग का पालन करते हैं, आदि।

उस दिन हमने एक हितचिंतक की बातें सुनी, जो बड़े दुखी और चिन्तित हृदय की पुकार जैसी लगी। इनमें मुनि-संस्था के निर्मल और अक्षुण्ण रखने जैसी भावना स्पष्ट थी।

बातें समय-संगत थीं और विचार कर सुधार करने में सभी की भलाई है। हमारी दृष्टि में तो पहिले हम श्रावक ही अपने मे सुधार करें। संभवत: हम श्रावक ही मुनिमार्ग को दूषित कराने मे प्रधान सहयोगी हैं। हम श्रावक जहाँ इक्के-दुक्के मुनिराज को अपनी दृष्टि से—कही किन्हीं अंशों मे कुछ प्रभावक पाते हैं, उनकी अन्य शिथिलताओं को नजरन्दाज कर जाते हैं और साधु को इतना बढ़ावा देने लग जाते हैं कि साधु को स्वयं में एक संस्था बनने को मजबूर हो जाना पड़ता है। साधु के यश के अम्बार लगे रहें और वह भीड से घिरा चारों ओर अपने जय-घोष सुनता रहे, तो इस युग मे तो यश-लिप्सा से बचे रहना उसे बड़ा दुष्कर कार्य है। फलत: साधु स्वयं संस्था और आचार्य बन जाता है और भक्तगण उसके आज्ञाकारी शिष्य। नतीजा यह होता है कि साधु की अपनी दृष्टि वैराग्य से हटकर प्रतिष्ठा और यश पर केन्द्रित होने लगती है। उसकी दृष्टि में परम्परागत आचार्य भी फीके पड़ने लगते है। बस, साधु की यही प्रवृत्ति उच्छृङ्खल और उद्दण्ड होने की शुरुआत होती है।

जनता दूसरो का माप अपने से करती है। हमे बोलने की कला नही और अमुक साधु बहुत बढ़िया—जन-मन-मोहक प्रवचन करते हैं या हम अपना भ्रमण-प्रोग्राम घोषित कर चलते हैं तो अमुक साधु बिना कुछ कहे ही एकाकी, मौन विहार कर देते है तो हम आकर्षित होकर उन्हे हर समय घेरने लगते हैं—उनकी जय-जयकार के अम्बार लगा देते हैं। पत्रकार प्रकाशन-सामग्री

मिलने से उस प्रसंग को विशेष रूपों में छपाने लगते हैं। बस, कदाचित् साधु को लगने लगता है कि मुझसे उत्तम और कौन ? उसका मोह (चाहे वह प्रभावना के प्रति ही क्यों न हो) बढ़ने लगता है और वह भी ऐसे कार्यों को प्राथमिकता देने लग जाता है जिसे जनता चाहती हो, उसके भक्त चाहते हों और जिससे उसका विशेष गुणगान होता हो। वह देखता है—लोगों की रुचि मन्दिरों के निर्माण में है तो वह उसी में सक्रिय हो जाता है, साहित्य मे जन-रुचि है तो वह साहित्य लिख-लिखाकर उसके प्रकाशन मे लग जाता है या बाहरी शोध-खोज की बातें करने लगता है अपनी खोज और कर्तव्य को भूल जाता है। आज अविचल रहने वाले साधु भी हैं और वे धन्य हैं।

मुनियों की जयन्तियाँ मनाने उन्हे अभिनन्दन ग्रंथ या अभिनंदन-पत्रादि भेंट करने कराने जैसे सभी कार्य भी श्रावकों से ही सम्पन्न किये जाते है। कैसी विडम्बना है कि—'मारे और रोने न दें' ? हम ही बढ़ावा दे और हम ही उन्हे उस मार्ग मे जाने से रोकने को कहें ? ये तो ऐसा ही हुआ जैसे साधु कमरे मे बैठ जाय और गृहस्थ आपस में ऊपर एक पखा फिट कराने की बाते करें ? साधु मना करें तो कहे—महाराज यह तो हम श्रावको के लिए ही लगवा रहे हैं, आदि। जब पखा लग जाय तब वे ही श्रावक बाहर आकर कहे कि ये कैसे महाराज है—'पखे का उपयोग करते हैं ?'

हमने देखा पू० आ० श्री धर्मसागर जी का 'अभिनंदन-ग्रन्थ।' लोगों का कहना है आचार्य श्री इसमें सहमत न थे और अन्त तक (और आज भी) इससे दूर रहे उन्होंने नही स्वीकारा जब कि कई मुनि श्रावकों की भक्ति के वशीभूत हो अपने स्वयं के पद को भुला बैठते हैं। किसी मुनि के जन्म की रजत, स्वर्ण या हीरक-जयंती मनाई जाती है तो काल गणना माता के गर्भ निःसरण काल से की जाती है—जैसे कि आम संसारी जनों में होता है। जब कि, मुनि का वास्तविक जन्म दीक्षा काल से होता है—वीतराग अवस्था के धारण से होता है और आगम में भी मुनि अवस्था को ही पूज्य बताया गया है। क्या मुनि कोई तीर्थंकर हैं; जो उनको कल्याणको से तौला जाय ? पर, क्या कहें श्रावक तौलते हैं और मुनि तुलते हैं। आखिर जरूरत क्या है—घिसे-पिटे दिनों को गिनने की ? क्या इससे मुनि-पद ज्यादा चमक जाता है ? धन्य है वे परम वीतरागी मुनि, जो इस सबसे दूर रहते हैं।—"हम उनके हैं दास, जिन्होंने मन मार लिया।"

हमे यह सब सोचना होगा और मुनियों के प्रति चिता व्यक्त न कर, पहिले अपने को सुधारना होगा। काश, हम श्रावक उन्हें चन्दा न दें तो मुनि रसीद पर हस्ताक्षर न करें, आदि। यदि हम ठीक रहें और श्रावक-सघ को कर्तव्य के प्रति सजग रखने का प्रयत्न करें तो सब स्वयं ही सही हो - पदेन सभी मुनि उत्तम हैं।

कैसी विडम्बना है कि हम अपने नेताओं को और अपनें श्रावक-पद को तो सही न करें और पूज्य मुनियों की तथा परायों की चिंता में दुबले होते रहें। जरा सोचिए !

—संपादक

धर्म-ध्यान युत परम विचित्र। अन्तर बाहर सहज पवित्र ॥
लोक लाज विगलित भय हीन। विषय वासना रहित प्रवीन ॥
नग्न दिगम्बर-मुद्रा धार। सो मुनिराज जगत हितकार ॥
एक बार लघु भोजन करें। सो मुनि मुक्ति पंथ को धरैं ॥

दुखद-निधन

वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी के सदस्य श्री रत्नत्रयधारी जैन एडवोकेट का आकस्मिक निधन हो गया है। वे अन्य अनेकों संस्थाओं से संबद्ध, समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। उनके निधन से अपार क्षति हुई है। वीर सेवा मन्दिर परिवार दिवंगत आत्मा की सुख-शान्ति की प्रार्थना और उनके परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करता है।

महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

की। ये प्रतिमायें लगभग पन्द्रह सौ वर्ष प्राचीन होगी।[१९]

अत: जैन मूर्तियों पर आलेखित लेखों ताम्रपत्र, तथा शिलालेखों आदि में उपलब्ध सामग्री से भगवान पार्श्वनाथ की महत्ता जैनकला और स्थापत्य में स्पष्ट प्रकट होती है। स्थापत्य की दृष्टि से भगवान पार्श्वनाथ के मन्दिरों में प्राप्त मूर्तियां एवं भग्नावशेष जैन-कला में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

—जैन मन्दिर के पास, बिजनौर
पिन कोड—२४६७०१ (उ०प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. लेखक—श्री रतनलाल जैन : जैन धर्म पेज १२४
२. लेखक—वादिराजसूरि कृत पासणाहचरिउ ७३/७५
हयसेण वम्मिलाहि जादो वाराणसीए पासजिणो।
पूसस्स बहुल एक्कारसिए रिक्खेविसाहाए॥
३. सम्पादक—बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ प्रथम भाग पेज १२२
४. वही—पेज १२७
५. वही— " "
६. वही— " "
७. वही— " "
८. लेखक—अजित कुमार जैन : जैनकला तीर्थ गोपाचल, स्याद्वद ज्ञानगंगा पत्रिका जुलाई ८४। पेज २७।
९. वही, पेज २६
१०. संकलन सुरेश ढोले : लेख ऐलोरा की गुफायें : आचार्य विमल सागर म० ६८ वी जन्म जयन्ती समारोह स्मारिका।
११. सम्पादक—बलबद्र जैन : भारत के दि० जैन तीर्थ पेज ३४ पर।
१२. वही पेज ३४ पर
१३. वही " "
१४. " " "
१५. " "
१६. लेखक—नरेश कुमार पाठक : अनेकान्त जनवरी मार्च पेज ६
१७. वही पेज ६ ८र
१८. " " "
१९. सम्पादक बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ प्रथम भाग पेज १२८
२०. वही पेज ५६ भारत में दि० जैन तीर्थ
२१. " " " " " "
२२. " " "—
२३. " " "—
२६. भारत के दि० जैन तीर्थ भाग १ पेज १०४
२७. लेखक—कु० बन्दना जैन : खजुराहो दर्शन : मंगल ज्योति स्मारिका।
२८. जैन शिला लेख संग्रह भाग २ पृ०२२७।२२८
२९. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग १ पेज ६१ सम्पादक बलभद्र जैन।

दिल्ली से श्री महावीरजी की पद-यात्रा सम्पन्न

"श्री वीर जय जय महावीर जय-जय" के मधुर गीत गाते हुए जब पद यात्री किसी नगर या मन्दिर में प्रवेश करते तब वहां की समाज उनका अभूतपूर्व स्वागत करती। इन पद-यात्रियो ने आचार्य श्री दर्शनसागर जी महाराज का आशीर्वाद प्राप्त कर दिनांक ७ अक्तूबर ८४ को प्रातः ६ बजे चांदनीचौक स्थित श्री दि० जैन लाल मन्दिर से श्री महावीरजी के लिए प्रस्थान किया। दिल्ली के जैन समाज ने इन पदयात्रियों को पुष्पहार पहना कर भावभीनी विदाई दी।

ये पद यात्री-भोगल, बदरपुर, फरीदाबाद, बल्लभगढ़, गदपुरी, पलवल, औरंगाबाद, बनचारी, होडल, कोसी, छाता, छटीकरा, चौरासी, आजमपटटी, भरतपुर, उच्चैन, बयाना, सुरौंठ, ढिंढोरा, हिण्डौन, शान्तिवीर नगर होते हुए दिनांक १६ अक्तूबर की प्रातः ५ बजे श्री महावीरजी के मन्दिर मे पहुचे। भगवान महावीर के जयजयकार से मन्दिर का वातावरण मुखरित हो उठा। यात्रा संघ के सभी सदस्यों ने भगवान महावीर के चरणों में नमन किया, प्रक्षाल पूजा और पाठ कर मन्दिर की परिक्रमा की।

इस यात्रा संघ में लगभग २५ व्यक्ति थे जिनमें से १६ यात्रियों ने पैदल यात्रा की। यात्रा की विशेषता यह थी कि सभी यात्री हर समय भजन-कीर्तन करते हुए आगे बढ़ते। जहां कही रुकते स्वाध्याय मे लीन रहते। देव दर्शन करना, पूजा अर्चना करना, रात्रि भोजन नहीं करना, पानी छान कर उपयोग करना, शुद्ध भोजन लेना, चमड़े की वस्तुओं का परित्याग आदि सभी पदयात्रियों के जीवन का अंग बन गया था। इतना ही नही सभी पदयात्री अनर्गल बातो और क्रोध आदि कषायो से दूर रहे। यात्रियों को श्री पदमचन्द जी शास्त्री के प्रवचनो का लाभ प्रतिदिन सुबह शाम प्राप्त हुआ जो यात्रा संघ के साथ गए हुए थे। रास्ते में अजैन बन्धु भी पदयात्रियों के स्वर में स्वर मिलाकर जय महावीर के नारे लगाते। संघ ने रास्ते में आये सभी जिनालयों के दर्शन भी किये। श्री पदमचन्द जी शास्त्री के प्रवचनों से यात्रियों के अतिरिक्त स्थानीय समाज के अन्य लोग भी लाभान्वित हुए। अपने प्रवचन में शास्त्री जी ने स्पष्ट किया कि इस प्रकार की यात्रा साधना का ही एक अंग है क्योंकि सभी यात्री संयम का पालन करते रहे। इस प्रकार की सभी क्रियाएं आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक होती हैं। ऐसी यात्राओं से धर्म की महती प्रभावना होती है।

दिनांक १६ अक्तूबर को रात्रि में श्री महावीरजी में पदयात्रा संघ-यात्रियों के सम्मान में एक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता क्षेत्र के व्यवस्थापक श्री जे० पी०एस० जैन ने की। ब्र० कमलाबाई के सानिध्य में सम्पन्न इस सभा में श्री सुभाष जैन व श्री उम्मेदमल पाण्डया को यात्रा की सफलता के लिए आशीर्वाद स्वरूप रजत पत्र भेंट किये गये। सभा मे दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय की बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम व श्री प्रदीप जैन के भजनों की सभी ने मुक्त कंठ से सराहना की।

इस पद यात्रा का श्रेय जहां शकुन प्रकाशन के संचालक श्री सुभाष जैन के सकल्प को है वहां मार्ग में आवास व भोजनादि की व्यवस्था का दायित्व श्री उम्मेदमल पांड्या ने स्वीकार कर यात्रा को निष्कटक बना दिया। इस सदर्भ मे दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री ब्रजमोहन जी की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता जिन्होंने व्यवस्था मे समय-समय पर योगदान दिया।

श्री पदमचन्द जी शास्त्री को इस यात्रा मे क्या अनुभव हुआ इस पर एक पुस्तिका निकट भविष्य मे शीघ्र प्रकाशित की जाने की आशा है।

—अनिलकुमार जैन

२५, अक्तूबर ८४ — २७७०, कुतुब रोड, दिल्ली

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह । ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-०

Jaina Bibliography . Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल— डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक— श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक— महासचिव, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८४

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अनेकान्त महिमा	१
२.	पट्ट महादेवी शान्तला—डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ	२
३.	पं० शिरोमणिदास की 'धर्मसार सतसई' —श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	६
४.	क्या राजा श्रेणिक ने आत्म-हत्या की ? —प० श्री रतनलाल कटारिया	११
५.	पंच-महाव्रत—श्री बाबूलाल वक्ता	१५
६.	वाचनिक अहिंसा : स्याद्वाद —श्री अशोक कुमार जैन एम. ए	१७
७.	एक अप्रकाशित अपभ्रंश-रचना —डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'	२०
८	पांच आस्रव (कविता)—कुमारी डा० सविता जैन	२५
९.	णमोकार मंत्र का फल—पुण्याश्रव कथा कोश से	२६
१०.	वर्धमान की तालीम —शायर, फरोग नक्काश	२७
११.	सम्पादकीय भेंट	२८
	साक्षात्कार-प्रसंग में	आवरण २
	वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कार्यकारिणी	,, ३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

साक्षात्कार-प्रसंग में—

बात-बात में बात निकलती है। उस दिन डा० नन्दलाल जैन आ गये। मैंने पूछा—कैसे पधारना हुआ। बोले—एक उत्सव में आया था। आपका 'अनेकान्त' मुझे इधर खींच लाया। सोचा, आपके भी दर्शन करता चलूं। 'अनेकान्त' मिलता रहता है, उसमें खोज पूर्ण सामग्री रहती है। आप जो बहुत से नए आयाम दे रहे हैं; और खासकर 'जरा सोचिए' में जो मुद्दे उठाए जाते हैं, उनसे नई दिशाएँ मिलती हैं। मैं तो यहां तक कहूंगा कि उससे सुप्त-अंतर-चेतना जागृत जैसी हो जाती है और ऐसा लगता है कि उसे पढ़ता ही रहूं।

मैंने कहा—आप की बड़ी कृपा है, इस कृपा के लिए धन्यवाद।

वे बोले—कोरे धन्यवाद से काम न चलेगा। मैं तो आप से कुछ हीरे प्राप्त करने आया हूं। आपके मुखारविन्द से एक-दो बात तो सुनूं। कृपा कीजिए।

मैंने कहा—न तो मैं हीरों का व्यापारी हूं और ना ही मेरा मुख अरविन्द है। आप तो किसी बड़े उत्सव में आए थे, आपने बड़े-बड़े वक्ताओं को सुना होगा। पहिले तो आप ही मुझे उन प्रसंगो से अवगत कराएं जो आपको उत्सव में उपलब्ध हुए। जब आप अनायास आ ही गए हैं तो क्यों न मैं उन प्रसंगो से लाभ उठाऊँ?

वे बोले—प्यासा क्या दूसरों की प्यास बुझाएगा? मुझे तो उत्सव में कुछ नहीं मिला। मैं जिस साध को लेकर आया था—अधूरी ही रही। बल्कि निराशा ही हाथ लगी। यहां भी वही देखा जो अन्य जगहो में देखता रहा हूं। लाखों का खर्च करके अनेकों विद्वान, उत्तम स्टेज-सजावट, उत्तम भोजन की उपलब्धि आदि के सभी व्यवस्थित उपक्रम किए गए, अनेकों प्रस्ताव पास हुए। पर, किसी ने जैन की मूल प्रक्रिया पर प्रकाश नहीं डाला। हां, अहिंसा के विषय में जरूर कुछ टूटा-फूटा सा उल्लेख आया। एक ने तो कहा कि जब अहिंसा को औरो ने भी माना है और जैन भी इसके पुजारी हैं तो हमें इसी पर जोर देना चाहिए। आज संसार त्रस्त है, उसका त्रास अहिंसा से ही मिट सकेगा, आदि। जब कि त्रास की मूल जड़ परिग्रह है, जिसे लोग बढ़ाए जा रहे हैं। इसका भाव तो ऐसा हुआ कि रोग बढ़ाते जाओ और इलाज कराए जाओ।

मैंने कहा—ठीक है जब सभी इसमे एक मत हैं तो यही उत्सव की बड़ी उपलब्धि है [illegible] मान लीजिए।

वे बोले—क्या कहने और प्रस्ताव पास करने मात्र से उपलब्धि हो जाती है या आचरण करने से उपलब्धि होती है। भाषण तो बहुत से सुनते हैं उन्हें आचरण में कितने लोग उतारते हैं।

मैंने कहा—आज के उत्सवों का प्रयोजन इतना ही रह गया है कि हमारी बात को अधिक लोग सुन-समझ सकें। दरअसल बात यह है कि हम दूसरो की चिन्ता करने के अभ्यासी बन चुके हैं। जैसे आंख दूसरों को देखती है अपने को नहीं। हमें पड़ौसी, देश और विदेश सबको सुधारने की चिन्ता है—सबमे कमी दिखती है। पर, हम अपनी कमी को नहीं देखते हैं। जैन-तीर्थंकरों ने ऐसा नही किया। उनका पहिला कार्य आत्महित रहा—वे पहिले केवल ज्ञानी बने बाद को समवसरण को संबोधित किया। यदि हम दर्पण लेकर देखें तब हमारी आंखें स्वयं को देख पाएंगी। यदि हम अपने अन्तर में झांकें तो बाहर के सुधार की सब बातें धरी रह जाएँगी—हम अपने दोषों को देख सकेंगे और सुधार में लग सकेंगे।

मैं तो ऐसा समझ पाया हूँ कि विचार, आचार, और प्रचार इन तीनों का अटूट सम्बन्ध है। यदि आप प्रचार करें तो वह आचार बिना अधूरा है और आचार भी विचार बिना अधूरा है। कुछ लोग विचार करते हैं आचरण नहीं करते। भला, जिनके स्वयं का आचरण नहीं उनके द्वारा प्रचार कैसा? वह तो ढोल में पोल ही होगा।

ये जो हमारी विद्वत्समाज है, जिसका सारा जीवन जिणवाणी की उपासना में बीता। जब वह ही शास्त्रों के अनुकूल आचरण नहीं कर सका—वीतरागी नहीं बन सका—उसे धन और धनवानों की ओर ताकने को मजबूर होना पड़ा, तब यह कैसे हो सकता है कि उसके वीतराग-वाणी रूप भाषण या प्रचार का असर चन्द-क्षणों में हो जाय? दिखता तो ऐसा है कि जैसे व्यापारी वर्ग भी घाटे में जा रहा हो। वह लाखों खर्च करके भी मात्र नश्वर-यश अर्जन में लगा हो—उसी के लिए सब कुछ कर रहा हो—आत्म-लाभ से उसे कोई प्रयोजन ही न हो, वह भी परायों में डूब गया हो।

[शेष आवरण तीन पर]

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३७ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० स० २०४० | अक्टूबर-दिसम्बर १९८४

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः । अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियास्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'
परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण । 'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत कल्याण ॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिटे मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान् जिन के (अनेकान्त गर्भित) वचन के भद्र (कल्याण) हों। □□

पट्ट महादेवी शान्तला

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन 'इतिहास मनीषी'

"आपकी यह बिटिया 'जगती-मानिनी' बनकर विराजेगी अर्थात् वह सारे विश्व में गरिमायुक्त गौरव से पूजी जाने वाली मानवदेवता की स्थिति प्राप्त कर लेगी। अपने जीतेजी ही जन-जन के स्नेह, श्रद्धा एवं भक्ति की पात्री बनकर एक देवी की भांति पूजित होगी—और यह सब अपने सद्व्यवहार, सद्गुणों तथा अप्रतिम व्यक्तित्व के बल पर ही।"

'जगती-मानिनी' बनने का उपरोक्त उद्गार, भविष्यवाणी, पूर्वाभास अथवा शुभाकांक्षारूप आशीर्वाद, अबसे लगभग नौ-सौ वर्ष पूर्व एक आठ-नौ वर्ष की नन्हीं बालिका के विषय में उसके शिक्षक ने उसके पिता के समक्ष व्यक्त किया था। स्थान था दक्षिण भारत के मुकुटमणि कर्नाटक देश का बलिपुर (वर्तमान बेलगांव)। बालिका के पिता थे उस नगर एवं सम्बन्धित प्रदेश के हेग्गड़े या (पेग्गडि) पदधारी स्थानीय प्रशासक एवं ग्राम प्रमुख बलिपुर द्वार-समुद्र होयसल राज्य का एक 'महत्वपूर्ण सीमांत जनपद एव प्रशासकीय इकाई था। हेग्गड़े का नाम मारसिंगय्य था। जो कुशल प्रशासक, वीर योद्धा और स्वामीभक्त राज्य कर्मचारी थे—होयसल नरेश विनयादित्य द्वितीय (१०६०-११००, के और विशेषकर उनके सुपुत्र तथा राज्य के वास्तविक कार्यसंचालक पोयसलवंश-त्रिभुवनमल्ल युवराज एरेयग महाप्रभु के वह अत्यन्त विश्वासपात्र थे। हेग्गड़े की धर्मपत्नी मानिकब्बे दण्डनाथ नाग वर्मा की पौत्री, दण्डनायक बलनेव की पुत्री और पेग्गडे सिंगमय्य की भगिनी थी। वीर सेनानियों के प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न यह महिला अपने पितृकुल की प्रवृत्ति के अनुसार परम जिन भक्त थी, जबकि उसके पति हेग्गड़े मारसिंगय्य परम शैव थे। परन्तु धर्मवैभिन्य के कारण उन पति-पत्नी के बीच असमाधान की स्थिति कभी नहीं आई दोनों का दाम्पत्य जीवन सुख-शान्ति, प्रेम और सद्भावपूर्वक व्यतीत हो रहा था। और इस महाभाग दम्पति की एक मात्र सन्तान, उनकी लाड़ली बेटी (शान्तले) शान्तला देवी या शान्तल देवी थी, जिसे लक्ष्य करके उसके शिक्षक, विविध विषय-निष्णात श्रेष्ठ विद्वान कविवर पण्डित बोकिमय्य ने वह शुभकामना व्यक्त की थी। वह स्वयं श्रवण बेलगोल के तत्कालीन भट्टारक पण्डिताचार्य चारुकीर्ति के गृहस्थ शिष्य थे। एक साधारण हेग्गडे की पुत्री यह अद्भुत लड़की प्रायः यौवनारम्भ में ही युवराज एरेयंग महाप्रभु एवं युवराज्ञी एचल देवी के द्वितीय पुत्र राजकुमार बिट्टिदेव की प्राणवल्लभा हुई और होयसलवंश के सर्वाधिक प्रतापी, शक्तिशाली एवं प्रख्यात नरेश बिट्टिवर्द्धन अपरनाम विष्णुवर्द्धनदेव (११०६-११४८) के रूप में उसके राज्यकाल में उसकी प्रिय पट्ट महादेवी अपने शेष पूरे जीवनकाल में बनी रही। वह उस होयसल चक्रवर्ती की सफलताओं, तेज प्रताप का प्रधान प्रेरणास्रोत एवं सक्रिय सहयोगिनी रही—वह उसकी सरस्वती, लक्ष्मी और शक्ति तीनों ही थी। साथ ही, राज्य की ही समस्त प्रजा नहीं, आस-पास भी दूर-दूर तक जिसके बुद्धि-वैषम्य, विचक्षता एवं अप्रतिम निष्कलमष सद्व्यवहार से छोटे-बड़े सभी जन अभिभूत रहे।

प्रबुद्ध होने का दावा करने वाला आज का मानव तर्कशील एवं शंकालु होता है। इतिहासातीत व्यक्तियों एवं घटनाओं को तो वह प्रायः पौराणिक, मिथिक या कपोलकल्पित गप्प कहकर नकार देता है। वह यह भूल जाता है कि सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण हो जाता है, और प्राचीन ऐतिहासिक स्थल भी कालान्तर में तीर्थस्थानों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इतना ही नहीं, गत अढ़ाई-तीन हजार वर्षों से संबंधित शुद्ध इतिहासकालीन व्यक्ति एवं घटनाओं को भी, उनके इतिहास सिद्ध होते हुए भी, वह यथावत स्वीकार करने

में संकोच करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐतिहासिक गवेषणा एवं शोध-खोज ही न की जाय, और उसके आलोक में अधुनाज्ञान ज्ञातव्य में कोई संशोधन एवं परिष्कार न किया जाय, किन्तु जितना जो ज्ञात है उसे तो स्वीकारना चाहिए।

जहां तक महारानी शान्तला देवी का प्रश्न है, उन्हें हुए पूरे नौ सौ वर्ष भी नही बीते हैं। तत्कालीन तथा निकटवर्ती अनेक स्मारकों, शिलालेखों तात्कालिक उल्लेखों एवं लोकप्रचलित अनुश्रुतियों आदि के अतिरिक्त ऐतिहासिक शोध-खोज पर आधारित आधुनिक युगीन इतिहास-ग्रंथों में महिलारत्न के विषय में प्रभूत ज्ञातव्य प्राप्त हैं। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते प्रारम्भ से ही हमारा प्रयास सामान्य भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में विभिन्न युगीन एवं विभिन्न क्षेत्रीय तथा विभिन्न वर्गीय जैन पुरुषों एव महिलाओ के व्यक्तित्व, कृतित्व एव योगदान का मूल्यांकन करता रहा है। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल आदि स्थानों से प्राप्त शिलालेखों तथा रामास्वामी अयंगार, शेषगिरिराव, राईस, नरसिंहाचार्य, भंडारकर, पाठक, अल्तेकर, सालतोर, नीलकण्ठ शास्त्री प्रभृति विद्वानों की कृतियों के अध्ययन से इस प्रवृत्ति को प्रेरणा एवं बल मिला था। फरवरी १९४७ के 'अनेकान्त' में हमारा लेख "दक्षिण भारत के राज्यवंशों में जैन धर्म का प्रभाव" प्रकाशित हुआ था। १९६१ में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अपने ग्रंथ 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' मे हमने विभिन्न युगों एवं विभिन्न क्षेत्रों में जैनों के ऐतिहासिक योगदान की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया था—मध्यकालीन दक्षिण भारतीय इतिहास के प्रसंग में द्वारसमुद्र के होयसल वंश का तथा उनके अन्तर्गत महाराज विष्णुवर्द्धन एवं उनकी पट्टमहादेवी शान्तला का भी उस ग्रंथ में परिचय दिया था। उसी प्रकार भारतीय ज्ञानपीठ से ही १९७५ में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं' में भी उक्त महादेवी अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत विवरण दिया था। ज्ञात हुआ है कि पिछले कुछ वर्षों में कन्नड़ भाषा में महारानी शान्तला के विषय में तीन-चार उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु उनके हिन्दी अनुवाद न होने से उनका कोई परिचय प्राप्त नही हुआ। कन्नड़ भाषा एवं साहित्य के एक महारथी, श्री सी० के० नागराजराव ने साधिक आठ वर्ष के परिश्रम से, १९७६ में अपना जो लगभग २२५० पृष्ठों का वृहत्काय उपन्यास 'पट्टमहादेवी शान्तला' कन्नड़ भाषा में लिखकर पूर्ण किया किया था और प्रकाशित भी करा दिया, उसके हिन्दी अनुवाद का प्रथम भाग (पृष्ठ सख्या ४००), १९८३ में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ था। इस भाग मे चरित्रनायिका के वाल्यकाल एव किशोर वय के पन्द्रह वर्ष की आयु पर्यन्त, लगभग ६ पृष्ठो का ही घटनाक्रम आ-पाया है।

शेष तीन भाग भी एक-एक करके शीघ्र ही प्रकाशित होगे, ऐसी आशा है हिन्दी रूपान्तर कार पण्डित पी० वेंकटाचल शर्मा लगभग ७५ वर्ष की आयु के अनुभवबद्ध उभयभाषाविज्ञ कन्नडी विद्वान हैं, अतएव अनुवाद की भाषा अति सरल, मुहावरेदार एवं प्रभावपूर्ण है। उसमें मूल कन्नड़ कृति के भाव एव शैली का उत्तमरीत्या निर्वाह हुआ—हां प्रूफ संशोधन की असावधानीवश छापे की अशुद्धियां यत्र-तत्र रह गई हैं। स्वय कथाकार श्री नागराजरावजी भी लगभग ७० वर्ष की आयु के ख्याति प्राप्त प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। वह मानवीय मूल्यों के प्रबल समर्थक, संवेदनशील एवं कुशल कथाशिल्पी मात्र ही नही हैं, इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करने के लिए उन्होने वर्षों तक तत्सम्बन्धित ऐतिहासिक साधन —स्रोतों का भी गहन अध्ययन एव मन्थन किया है। गत शती के सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार एलेक्जेण्डर ड्यूमाकी एक उक्ति है कि 'इतिहास ऐसा लिखा जाना चाहिए कि पाठक समझे कि वह एक रोचक उपन्यास पढ़ रहा है, और उपन्यास ऐसे लिखा जाय कि पाठक को लगे कि वह जीवंत इतिहास पढ़ रहा है।' श्री नागराजरावजी के इस उपन्यास पर यह उक्ति भली प्रकार चरितार्थ है। उपन्यास की कल्पनाप्रवण रोचकता के साथ इतिहास की प्रमाणिकता का उसमें अद्भुत सामन्जस्य है। घटनाक्रम हृदयग्राही, कथनोपकथन सहज स्वाभाविक, और छोटे-बड़े

सभी नारी एवं पुरुष पात्र सजीव हो उठे हैं। हम यह नहीं कहते कि वह शुद्ध इतिहास है—वह एक उपन्यास ही है, किन्तु इतिहास की नींव पर कथाकार की रंगबिरंगी कल्पना से निर्मित ऐसा भव्य उपन्यास रूपी प्रासाद है, जिसमें चरित्रनायिका तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के व्यक्तित्व तो उपयुक्त रूप में उजार हुए ही हैं, तत्कालीन धर्म एवं संस्कृति, लोकजीवन एवं राजनीति, मान्यताएं एवं विश्वास भली प्रकार प्रतिबिम्बित हैं।

एक बात है कि उपन्यास के लेखक एव अनुवादक धार्मिक दृष्टि से दोनों ही सज्जन अजैन हैं, जबकि चरित्र-नायिका शान्तला देवी स्वयं तथा अन्य पात्रों में से अधिकतर जैन धर्मावलम्बी हैं। विद्वान लेखक ने तत्कालीन जैन आचार-विचार, मान्यताओं, विश्वासों, परम्पराओं और प्रथाओं को, उस युग, क्षेत्र और समाज के पूरे परिवेश को आत्मसात करने की श्लाघनीय चेष्टा की है। तथापि, उससे यह अपेक्षा करना कि उसे उक्त तथ्यों की एक सुविज्ञ एवं प्रबुद्धजैन जैसी सहज स्वाभाविक जानकारी हो, एक ज्यादती है। इसी कारण एक ऐसे जैन पाठक को यत्र-तत्र ऐसा लग सकता है कि अमुक तथ्य ऐसा नहीं या ऐसा नहीं हुआ हो सकता। किन्तु लेखक की तद्विषयक अनभिज्ञताएं या भ्रांतियां क्षम्य ही कही जायेंगी—कम से कम उपन्यास के प्रवाह एव सोद्देश्यता पर उनसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यों अनेक प्रसंग तो ऐसे जैनत्वपूर्ण बन पड़े हैं कि शायद कोई जन्मजात सुविज्ञ जैन धर्मावलम्बी भी शायद वैसा न लिख पाता। महत्व की बात यह है कि उस युग एवं प्रदेश में जिन धर्म एक प्राणवत, प्रभावक एवं पर्याप्त व्यापक धर्म था, और उसका प्रमुख कारण शायद यह भी था कि उसके अनुयायी समदर्शी, उदार, सहिष्णु, समन्वयवादी और सदाचारी थे, वे धर्म तत्व में निहित मानवीय मूल्यों पर अधिक बल देते थे और भावनात्मक एकसूत्रता के प्रबल पोषक थे। फलस्वरूप जैन, शैव, वैष्णव, वीरशैव, बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों के यथासम्भव निर्विरोध सामंजस्य से एक समन्वित धर्म—संस्कृति (कम्पोजिट रिलीजसकल्चर) लक्षित हो रही थी। कम से कम श्री नागराजराव ने ऐसा ही आभास देने का सफल प्रयास किया है, और वह यथार्थ वस्तु स्थिति से कुछ दूर नहीं प्रतीत होता। आज के युग में भी वैसी भावना एवं स्थिति के पनपाये जाने की परम आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि जिस देश, जाति, राष्ट्र या युग में नारी शक्ति प्रायः पूर्णतया दमित एवं शोषित रही, वह तत्तद पतनकाल या अन्धयुग ही रहा। यों भी कह सकते हैं कि जब जब उत्थान एवं अभ्युदय रहा, पुरुष के साथ नारी शक्ति प्रबुद्ध, सुशिक्षित, कर्मशीला और पुरुष की सक्रिय सहयोगगिनी, बहुधा मार्ग दर्शिका भी रही। इतिहास इसका साक्षी है। बहुत आगे-पीछे न जाकर, पांचवीं-छठी शती ई० से लेकर १५ वी-१६ वीं ई० पर्यन्त दक्षिण भारत मे, और विशेषकर कर्णाटक में, जैन धर्म का अभ्युदय प्रायः अविच्छिन्न रहा। और उसकी इस प्राणवत्ता एवं तेजस्विता का श्रेय यदि दिग्गज जैनाचार्यों, सन्तों एवं वीर पुरुषों की है, तो उन सैकड़ों इतिहाससिद्ध जैन महिलारत्नों को भी है, जिन्होंने उक्त काल, क्षेत्र और परम्परा को अलंकृत किया था। होयसल चक्रवर्ती विष्णुवर्धन की पट्टमहादेवी शान्तला (१०८३-११२८ ई०) उक्तकालीन जैन नारी-शक्ति के आदर्श का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

लेख के प्रारम्भ में विलक्षण महिला के लिए हमने 'जगती-माकिनी' विशेषण प्रयुक्त किया है—वह हमारा आविष्कार नहीं है, कथाकार नागराजराव जी ने बालिका शान्तला के सुयोग्य अध्यापक कविवर कोकिमय्य जी के मुख से उसे कहलाया है। हम कह नहीं सकते कि इसके लिए कोई ऐतिहासिक आधार है, अथवा यह विद्वान लेखक की अपनी सूझ है—यदि उनकी अपनी सूझ तो विलक्षण है, और सर्वथा सार्थक भी। तत्कालीन अभिलेखों आदि में उस महादेवी के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा उसे —चन्द्रानने, लावण्यसिंधु, अगण्यलावण्यसम्पन्ना, कश्मनरति, मनोजराजविजयपताका, कन्देबलम्बालकालम्बितचरणनख-किरणकलापा, मृदुमधुर-वचनप्रसन्ना, सदर्थतमयोचितवचनमधुरसस्यंदि—वदनारविंदा, आदि कहकर की है। उसके विद्या-बुद्धिवैभव का सूचन-प्रत्युत्पन्न—वाचस्पति, विवेकैकबृहस्पति, सकलकलागमानूने, सकल-

गुणगणननूना, विधेयमूर्ति, सर्वकलान्विता, पंचलकार-पंचरत्नयुक्ता, (ललितकलापंचकयुक्ता), संगीतविधा-सरस्वती, गीतावधनृत्यसूत्रधारा, संगीतसंगतसरस्वती, विचित्र नर्तनप्रवर्तन-पात्रशिखामणि, भारतागमद-तिरुले-निसलुमय-क्रमनृत्यपरिणता, भरतागमभवननिहित-महानीयमतिप्रदीपा इत्यादि। विरदों द्वारा हुआ है। पतिव्रता-प्रभावसिद्धसीता, अभिनवरुक्मिणीदेवी, पतिहितसत्यभामा, अभिनबारुंधति, पतिहितव्रता, विष्णुनृपमनोनयनप्रिया, विष्णुवर्द्धनजगदचित्तवल्लभलक्ष्मी,सौभाग्यसीमा, अनवरत-परमकल्याणाभ्युदयशतसहस्त्रफलभोगभागिनी-द्वितीयलक्ष्मी, विष्णुवर्द्धनपोयसलदेवर-पिरियरसि पट्टमहादेवी — उसके पातिव्रत्य, अनन्यपतिप्रेम और सौभाग्य के सूचक विशेषण हैं। साथ ही, वह निजकुलाभ्युदयदीपिका, परिव,रफलित-कल्पितशाखा थी तो सौसिगंधहस्ति या गुद्धतंसवतिगंधवारण भी थी। यह शुद्धचरित्रा, विशुद्धप्राचारविमला, व्रतगुण-शीला, व्रतगुणशीलचरित्रान्तःकरण, मुनिजनविनेयजन-विनीता, विनयविनमद्विलासिनी, दयारसामृतपूर्णा, अचिन्त्य-शील, अनूनदानाभिमानी, सकलवन्दिजन चिन्तामणि, सकलसमयरक्षामणि, भव्यजनहितवत्सला, सर्वजीवहिता, सर्वमगधितियुता, जिनधर्मनिर्मला, आहारमयभेषज-शास्त्र-दान-विनोदा, भुवनकदानचिंतामणि, जिनगंधादकपवित्री-कृतात्तमांगा, जिनधर्मकथा प्रमोदा, पुण्योपार्जनकरणकारणा जिनसमयसमुदितप्रकारा, चतुस्समयसमुद्धरण-करणकारणा, सम्यक्त्वचुड़ामणि आदि उपाधियों से विभूषित महिमामयी विष्णुपिदमेभूमिदेवते, रण व्यापार दोल बलमदेवते, जनक्केलपुज्यदेवते, विद्येयोलवाग्देवते, सकलकार्योदोगदोल-मन्त्रदेवते के रूप में लोकैकविख्यात हुई।

इतने अधिक एवं अर्थगांभीर्यपूर्ण विशेषण अन्य किसी नारीरत्न के लिए साहित्य या शिलालेखादि में प्रयुक्त नही हुए। हम 'श्री नागराजरावजीसे पूर्णतया सहमत हैं कि महादेवी शान्तला में निश्चित ही ये योग्यताएं रही होंगी। यदि एक ही शब्द में उस सर्वगुण सम्पन्ना सुलक्षणा तेजोमूर्ति का परिचय दिया जाय तो उसके लिए 'जगती-मानिनी' विशेषण की उपयुक्तता असंदिग्ध है। उपरोक्त में से अधिकाश प्रशस्तिवाक्य श्रवणबेलगोल में स्वयं उस महा-देवी द्वारा निर्मापित अति भव्य जिनालय "सवतिगंधवारण-बसति" में प्राप्न शिलालेख में अंकित हैं और यह प्रशस्ति उक्त महादेवी के दिवंगत होने के उपरांत अंकित की गई थी—कविवर पं० बोकिमरूय उसके रचयिता थे और संगीत—नाट्य-शिल्पाचार्य गंगाचारि ने उसे उत्कीर्ण किया था। वे दोनों महानुभाव शान्तला के शैशवावस्था से ही शिक्षक एवं अध्यापक रहे थे। महादेवी के धर्मगुरु मूलसंघ-कौण्डकुन्दान्वय-देशीगण-पुस्तकमगच्छ के आचार्य मेघचन्द्र त्रैविद्य के सुशिष्य आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे।

लगभग दो मास पूर्व हमे इस उपन्यास की प्रति प्राप्त हुई थी—तब से चार-पाँच बार हम उसे पूरा पढ़ चुके हैं, फिर भी तृप्ति नहीं होती। बड़ा अच्छा लगा—पुनः-पुनः पढ़ने की इच्छा होती है। निस्सन्देह यह क्लासिकल कोटि की अति श्रेष्ठ कृति है। लेखक अनुवादक एवं सभी साधु-वाद के पात्र हैं उपन्यास के द्वितीयादि भागों की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा रहेगी।

—ज्योति निकुंज,
चार बाग, लखनऊ-१९

हमी अपनी शान्ति के बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार में हैं उनमें से एक भी पदार्थ आत्मस्वभाव का बाधक नहीं। बर्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरुषों में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात् विकारी नहीं करता, हम स्वयं मिथ्या विकल्पों से उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है इसलिए जहां तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।

—वर्णी-वाणी

पं० शिरोमणिदास की "धर्मसार सतसई"

□ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिंसिपल

प० शिरोमणिदास (सिरोमनदासगुटका में लिखित है) का जन्म लगभग स० १७०० के लगभग होना चाहिए। क्योंकि उन्होने अपनी प्रस्तुत कृति की रचना सं० १७३२* में सहरोनि नगर के शातिनाथ मदिर मे की थी। यहां महाराज देवीसिंह का राज्य था और भारतवर्ष पर बादशाह औरंगजेब राज्य कर रहा था। पं० शिरोमणिदास भ० सकल कीति के शिष्यों मे से थे। अतः उन्होंने अपनी कृति की प्रत्येक सन्धि समाप्ति पर अपने गुरु सकल कीति का बड़े आदर और भक्ति भाव से उल्लेख किया है। ग्रंथ के अन्त में लम्बी प्रशस्ति देते हुए पण्डित जी ने जो कुछ लिखा हैं वह निम्न प्रकार है—

जसकीरति भट्टारक संत, धर्म उपदेश दियो गुनवंत।
सूरज विन दीपक जैसे, गणधर विनु भुवि जानो तैसे ॥८०
ललितकीति भविजन सुखदाई, जिनवर नामजपे चितु लाई।
धर्मकीर्ति भए धर्म निधानी, पद्मकीर्ति पुनि कहे बखानि ।८१
तिनके सकलकीर्ति मुनि राजे, जप तप सजम सील विराजे।
ललितकीर्ति मुनि पूरब कहे, तिन्हें के ब्रह्मसुमति पुनि भए '।
तप आचार धर्म सुभ रीति, जिनवर सौ राखी बहु प्रीति।
तिनके शिष्य भए परवीन मिथ्यामत तिन कीन्हों दीन ॥
पंडित कहे जु गंगादास, व्रत संजम शील निवास।
पर उपकार हेतु बहु कियो, ज्ञानदान पुनि बहु तिनि दियो ॥
तिनके शिष्य सिरोमनि जानि, धर्मसार तिन कह्यौ बखानि ॥
कर्मक्षय कारन मति भई, तब यह धर्म भेद विधि ठई ॥
जो यह पढ़ै सुनै चित लाइ, समकित प्रकटै ताको आइ।
व्रत आचार जानै सुभ रूप, पुनि जानै संसार स्वरूप ॥
जिन महिमा जानै सुखदाइ, पुनि सो होइ मुकतिपति राइ।
अक्षर मात हीन तुक होइ, फेरि सुधारि सज्जन लोइ।८७।
जैसी विधि मैं ग्रंथनि जानि, तैसी पुनि मैं कही बखानि।
जे नर विषयी धर्म न जानै धर्म सार विधि ते नहीं मानै ॥
जे नर धर्म सील मनु लावै धर्मसार सुनिकै सुख पावै।
सिहरौनि नगर उत्तम सुभथान शांतिनाथ जिन सोहै धाम ॥
प्रतिभा अनेक जिनवर की भासै दरसन देखत पाप नसावै।
श्रावक वसै धर्म की रीति अपने मारग चले पुनीत ॥
कुटुम सहित तिनि हेतु जु दियो, तहां ग्रंथ यह पूरन कियो।
छत्रपति सोहै सुलतान, औरंगजेब पाति साहि नाम ॥९१॥
देवीसिंह नृपति बलि चंड, बैरिन सों लीन्हों बहु दण्ड।
प्रजा पुत्र सम पालै धीर, राजनि में सोहै वर वीर ॥९२॥
तिनके राज यह ग्रंथ बनायो, कहै सिरोमन बहु सुख पायो।
संवतु सत्रह सै बत्तीस, वैसाख मास उज्ज्वल पुनि दीस ॥
तृतीया अक्षय सनो समेत, भवि जन को मगल सुख देत।
सात सै त्रेसठि सब जानि, दोहरा चौपाइ कहे बखानि ॥
जिन वर भक्ति जु हेतु अति, सकलकीर्ति मुनि थान।
पंडित सिरोमनिदास को, भव भव होहु निदान ॥

इतिश्री धर्मसार ग्रन्थे भट्टारक सकलकीर्ति उपदेशात् पं० सिरोमनि विरचिते श्री तीर्थङ्करमोक्ष गमन श्रेणिक प्रश्न करण वर्णनो नाम सप्तमो संधि समाप्ता। इति धर्मसार ग्रंथ सम्पूर्ण।

लिपि प्रशस्ति—संवतु १८६९ वर्षे कार्तिक सुदी द्वितीयायां शुक्रवासरे शुभ भवतु मंगल। लिखितं करैहरा वारे सिंघई परम सुखजी को बेटा नौनितराइ पोथी आपने वास्ते उतारी।

---

* पता नहीं स्व० पं० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ने अपनी प्रमुख कृति "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" नामक ग्रंथ में भाग ४ पृष्ठ ३०३ पर कृति का रचना काल सं० १६६२ किस आधार पर लिखा है जबकि अन्य उपलब्ध सभी कृतियों में रचना काल सम्वत् १७३२ ही है। आचार्य जी की यह उद्भावना अन्वेषणीय है।

उपर्युक्त प्रशस्ति से हमें पं० शिरोमणिदास के बारे में अच्छी खासी जानकारी प्राप्त हो जाती है फिर भी जिन भट्टारकों का उल्लेख पण्डित जी ने किया हैं उनके विषय में भी संक्षिप्त-सी जानकारी आवश्यक है। क्योंकि सकलकीर्ति नाम के कई भट्टारक विद्वान् हुए है अतः प्रस्तुत भ० सकलकीर्ति जी बलात्कारगण की जेरहट शाखा के प्रमुख आचार्यों में से एक थे। आपने सं०१७११ में एक मूर्ति प्रतिष्ठित की थी जो परवारमंदिर (नागपुर) मे है। सं० १७१२ में प्रतिष्ठित भ० पार्श्वनाथ की मूर्ति बाजार-गांव (नागपुर) मे है। सं० १७१३ की प्रतिष्ठित मूर्ति भ० पार्श्वनाथ की नरानपुर में है। पपौरा जी स्थित एक मूर्ति सं० १७१८ की आपने ही प्रतिष्ठित की थी। अहार जी स्थित षोडकारण यंत्र सं० १७२० में आपने ही प्रतिष्ठित किया था। विस्तृत जानकारी के लिए भट्टारक सम्प्रदाय के पृष्ठ २०२ से २०८ तक देखें।

प्रस्तुत कृति की तीन-चार पाडुलिपियां प्राप्त होती हैं। एक तो मेरे पास है जो करेरा निवासी सेठ मक्खनलाल जी वस्त्र विक्रेता ने दी है। वे बड़े ही सरल परिणामी, उदार हृदय एवं धार्मिक जीव हैं, वे जितने धर्मानुरागी हैं उतने ही साहित्यानुरागी भी है मेरे साथ बैठकर घण्टों धार्मिक चर्चा करते हैं। यह प्रति १६॥c.m लम्बी और १५॥ c. m' चौड़ी है। इसमें ८६ पत्र हैं प्रत्येक पत्र पर ११-११ पंक्तियां तथा प्रत्येक पंक्ति में २३-२४ अक्षर हैं प्रति स्पष्ट और सुवाच्य है तथा रचनाकाल के १६७ वर्ष बाद की है। प्रस्तुत पाडुलिपि गुटके की आकृति जैसी है अतः इसमे दिशाशूल के दिन, सम्यक्त्व के २५ दोष, पंचमंगल, जिनदर्शन पाठ आदि कई छोटी-छोटी रचनायें भी संग्रहीत हैं।

इसके अतिरिक्त एक प्रति आरा में होनी चाहिए जिसके आधार पर स्व० पं० नेमीचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य ने लिखा है इनके अतिरिक्त तीन प्रतियों का उल्लेख राजस्थान सूची भाग ४ में उपलब्ध होता है। इनमें से एक प्रति सं० १७६४ की लिखी हुई है जो रचनाकाल के केवल ६२ वर्ष बाद ही की हैं जो सम्भवतः अधिक प्रामाणिक और संपादन के लिए उपयुक्त होनी चाहिए।

प्रस्तुत कृति बड़ी ही रोचक और मार्मिक है तथा साहित्यिक एवं तात्विक दृष्टि से अति विवेचनीय है। इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है जो बड़े ही मनोहारी है। गिनने में केवल ७५५ छंद सात सन्धियों में प्राप्त हुए पर कवि के लिखे अनुसार कुल छन्द संख्या ७६३ है। अस्तु पांच-आठ छन्दों का अन्तर गिनने मे ही निकल आवेगा। संपूर्ण ग्रंथ सात सन्धियों में विभाजित है जो निम्न प्रकार है:—

१. राजा श्रेणिक प्रश्नकरण नाम वर्णन की प्रथम सधि छन्द सख्या	४३
२. सम्यक्त्व महिमा वर्णन द्वितीय सन्धि छंद संख्या	५६
३. ५३ क्रिया वर्णन नाम तृतीय सधि छंद संख्या	१६४
४. कर्म विपाक फल वर्णन नाम च० " "	१४८
५. तीर्थंकर (जोगीस्वर) धर्म महिमा वर्णन नाम पंचम सधि छद सख्या	७६
६. तीर्थंकर (जोगीश्वर) गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान वर्णन नाम षष्ठम सधि छन्द सख्या	१४३
७. तीर्थंकर (जोगीश्वर) मोक्षगमन वर्णन नाम सप्तम सन्धि छन्द संख्या	६५
	७५५

प्रस्तुत कृति को कई विशेषणयुक्त नामो से उल्लिखित किया गया है जैसे धर्मसारग्रंथ, धर्मसारचौपाई, धर्मसार छंद बद्ध आदि-आदि। जब मैंने प्रस्तुत कृति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन किया, तो मुझे इसमे "बिहारी सतसई" के कुछ तत्वों के दर्शन प्राप्त हुए। सर्वप्रथम तो जैसे बिहारीदास की एक ही कृति प्राप्त है उसी तरह पं० शिरोमणिदास की एक ही कृति उपलब्ध है'। सम्भव है शोध-खोज करने पर कोई और कृति प्राप्त हो जावे। दूसरे यह सात संधियों में विभाजित है, तीसरे इसमें सात सौ त्रेसठ छंदों की रचना हैं। चौथे छन्दों के अर्थों की गम्भीरता, लालित्य एवं अलंकार युक्त छन्दोबद्धता ने मुझे बहुत प्रभावित किया और सहसा मेरा मन इस कृति को 'धर्मसार सतसई' लिखने के लिए उल्लसित हो उठा। पाठक ! मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे और यदि 'सतसई' नाम अनुपयुक्त

समझते हैं तो सुपुष्ट प्रामाणिक तर्कों द्वारा मेरा मार्ग-दर्शन करें, मैं अपनी भूल सुधार कर लूंगा।

यह निर्विवाद है कि "बिहारी सतसई" शृंगारिक कृति है और 'धर्मसार सतसई" विशुद्ध तात्विक एवं धार्मिक कृति है अतः वैसे तो कोई मेल नहीं खाता है पर कुछ बातों की समानता ने मुझे "सतसई" लिखने को बाध्य कर ही दिया है। वैसे भी जैन साहित्य में 'सतसई' रचनाओं की बहुत ही कमी पाई जाती है अतः पाठक रुष्ट न हों और इसे 'सतसई' रूप में स्वीकार कर अनुगृहीत करें।

पं० शिरोमणिदास जी बुन्देल खण्ड क्षेत्र से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। संभवतः सिहरोनि नगर बुन्देल-खण्ड के किसी नगर विशेष का ही नाम रहा हो। पंडित जी ने प्रस्तुत कृति में घाम, लाडी, घूरौ, पकौरा, करौंदा, बिस्मरा, कलींदा, अपूत, अचार (फल) फनकुली, आदौ (अद्रक) अनथइ, अथइं, दातौनि, गरदा आदि आदि-आदि बहुत से बुन्देली शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे बुन्देल खण्ड क्षेत्र के ही निवासी थे।

कवि ने प्रस्तुत कृति की तात्विक ज्ञान, आचारशास्त्र एवं धार्मिक दृष्टि से एक संकलन ग्रन्थ-सा तैयार किया है पर छन्दों की रचना बड़ी ही मार्मिक है। उपर्युक्त सात सन्धियों में उन्होंने जिन पूजा, चक्रवर्ती संपदा, नरक के दुख, तिर्यंच के दुख, सोलह स्वर्गों का वर्णन, बारहभावना, सोलह स्वप्न, समवशरण का सौन्दर्य वर्णन, जिनेन्द्र प्रभु की माता का वर्णन आदि-आदि विषयों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है? कहीं-कहीं शिष्ट शृंगार के भी दर्शन हो जाते हैं। इस तरह यह कृति हिन्दी जगत में जैन साहित्य के इतिहास की एक अनुपम कृति है।

बानगी के लिए कुछ छन्द प्रस्तुत कर रहा हूं जिससे कृति की श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। कवि इन्द्र की इन्द्राणियों का वर्णन बड़े शृंगारिक ढंग से करता है। पर उसमें शिष्टता और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने दिया गया है जैसे देखिये:—

शची अष्ट सुन्दर सुभ गात, विकसित वदन कहै ते बात।
सदा काल नवयौवन रहै, कोमल देह सुगंध अति बहै॥
कठिन नीवि उर कुच कलस विराजै,
मुख की ज्योति कोटि ससि लाजै।
कटि सताईस देवी मन हरनी,
भोग विलास रूप सुख धरनी।१०३।
सिंगार बहुत आभूषण लिए, हाव-भाव विनत्र रस किए।
अति कटि छीन कमल नैंन, कला गीत बोलै शुभ बैन॥

भगवान का जब गर्भ में आगमन हुआ तो षट् मास पूर्व ही इन्द्र ने पृथ्वी पर जो प्राकृतिक छटा बिखेर दी उसका कैसा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है:—

रत्न वृष्टि बरसै सुख रूप, मानहुं तारागण जु स्वरूप।
स्वर्ग लोक मानो लक्ष्मी आई, मात-पिता मनु लाई॥
पुष्प वृष्टि बरसावहिं देव, जय जय शक्र करैं बहु सेव।
दुंदुभि देव बजावहिं तार, नचहिं अप्सरा रूप रसाल।८।
मंद सुगंध वायु शुभ चलै, रोग शोक दुख दारिद्र गलै।
प्रजा अचम्भौ दिन दिन करै, जिन उत्पत्ति जानि मन धरै।

भगवान के माता-पिता के घर जाने से पूर्व इन्द्र अपने पूर्व पुन्य एवं भाग्य की सराहना करता हुआ स्नानादि करता है उसका कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है:—

एक घटी में अवधि प्रकासै, पूरब पुण्य सकल हित भासै।
मैं तप पूरब कीन्हौ घोर, व्रत क्रिया पाली अति घोर।
मैं जिनेन्द्र पूजे अति शुद्ध, पात्रहि दान दियौ हित बुद्धि।
सो वह पुण्य फलौ मोहि आज, सकल मनोरथ पूरे काज॥
यह विचारि उठि ठाढ़े भए, देविन सहित स्नान हित गए।
अमृत वापिका रत्ननि जड़ी, महा सुगंध कमल बहु भरी॥
तहां स्नान करें सुख हेत, बढ़ौ प्रेम रस बहु सुख देत।
करी विनोद क्रीड़ा सुख पाइ, आनंद उमग्यो अंतु न आइ।
उज्ज्वल कोमल वस्त्र सुगंध, पहिरे देव महा सुखबंध।
कंकन कुंडल मुकुट अनूप, भूषण अनूप को कहै स्वरूप।
गीत नृत्य वादित्र निर्घोष, देविन सहित चल्यो सुर घोष॥
जिन वर मंदिर देखे जाइ, बहु आनन्द करै सुर राइ॥

सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है तथा कैसे नष्ट होता है उसके विषय में सुन्दर छन्द देखिए:—

उत्पत्ति:—

कै तो सहज उपजै आइ, कै मुनिवर उपदेस बताइ।

चारों गति में समकित होइ, यहे उत्पत्ति जानौ तुम लोय।
विनाश :—ज्ञान गर्व मति मंदता, निठुर वचन उद्गार।
रौद्र भाव आलस दसा, नास पांच प्रकार ॥

मिथ्यात्व के पांचों नामों पर कवि ने बड़ा ही सुन्दर कवित्त लिखा है :—

कवित्त इकतीसा :—

प्रथम एकांत नाम मिथ्यात, अभिग्राहिक दूजो विपरी,त
आभिनिवेसिक गोत है।
विनय मिथ्यात, अनाविग्रह नाम जाको,
चौथो ससय जहा चित भौर कैसो पोत है।
पांचमों अज्ञान अनभोगी कगहल जाके,
उदै चैन अचेतन सो होत है,
एई पांचो मिथ्यात्व भ्रमावै जीव को जगत मे,
इनके विनाश समकित को न उदोत है ॥

सम्यक्त्व की महिमा के कुछ छन्द देखिए :—

थावर विकलत्रयक है, निगोद असैनी जानि।
म्लेच्छ खंड जिन भनै कुभोग भूमि मन आनि ॥
षट् अध जु भूमि नरक की खोटी मानुष जाति।
तीन वेद दोइ वेद पुनि ए जानौ दुख पांति ॥
जब समकित उपजै सुन भूप, ए सब पदवी धरे न रूप।
यह सब महिमा समकित जानि,
होई जीव को सब सुख खानि ॥
नर गति में नर ईश्वर होइ,
देवनि मे पति जान्यौ सोइ।
इह विधि भव जीव पूरन करै,
पुनि सो मुक्ति रमणि को वरे ॥
नभ में जैसे भानु है ईस, रत्नत्रय मे चिन्तामणि दीस।
कल्पवृक्ष वृक्षनि मे हार (श्रेष्ठ),
देव जिनेन्द्र देवनि में सार ॥
सकल नगनि में मेरु है जैसे,
सब धर्मनि में समकित तैसे।
यही जानि जिउ (हृदय) समकित धरौ,
भवसागर दुख जातें तरौ ॥
व्रततप सयम धरइ अनेक, समकित बिनु नहीं लहै विवेक।
जैसे कृषि करि सेवा करै, मेघ बिना नहीं फल को धरै ॥
जे नर मुक्ति गए जिन कही, आगे जैं पुनि जैहैं सही।
अबै जात हैं भव्य अनेक, ते समकित फल जानहु एक ॥
गणधर कहै सुनौ हे राइ, समकित महिमा अन्त न आइ।
धर्म मूल में तुमसौं कही,
सुनि श्रेणिक दृढ़ कै सर्दही (श्रद्धा हो) ॥

पच उदम्बर के अति चारों मे बुन्देली भाषा के शब्दों को किस चतुराई से संजोया है वह दर्शनीय है :—

बेर मकौरा जामु अचार, करौंदा बेर अनूत मुरार।
कुम्हड़ा, गढ़ैली, बिंवा भटा, कलींदे फनकुली चचेड़ा जड़ा।
सूरन सुरा अद्रक (आदऊ)गज्जरी, महारु कदमूल ले हरी।
हे पुनि अवर कहे जिन राई, इनमे जीव अनेक बसाई ॥

मधु का वर्णन तथा अतिचार के छन्द देखिए :—

सकल निंद्य रस माछी हरै, करकै वमन इकट्ठी धरै।
अनेक अन्डा वर उपजै तहां बहुत जीव रस बूड़ै तहां ॥
अनेक जीव मरिकै मह (मधु) होइ,
जउ किमि भक्षइ धर्मंहि गोइ।
यज्ञ पिंड लै मह सो देइ, यह को भख पाप सिर लेइ ॥
अतिचार :—
नैनू (मक्खन) का चौ दूध पिऊ सींऊं रे जे कहे।
अप्रासुक जो नीर थानै सधा नै जं लहै ॥

मांस के अतिचार के उत्कृष्ट छन्द देखिए :—

हींगु सलिल घी तेल चर्म की सगति जे रहे।
उपजैं तहां जीव अनेक मांस दूषण यह जिन कहे ॥
जाको नाउ (नाम) न जान्यो जाइ,
अरु सेधौ फलु कहो बताय।
हाट चुनु अनगालो नीर साक पात्र फल हरित जु धीर।
जा मे तारि (र) चलै बहु भांति, लगै फफूंडा छाड़ौ जांत।
कोमल फल है पत्र जु फूल त्वचा गवारि बहु बीजहु कूल ॥

पांच व्रतो का वर्णन करते हुए सत्य धर्म (व्रत) का कवित्त छन्द कितना लालित्यपूर्ण बन गया है। जरा ध्यान से पढ़िए :—

पावक तें जल होइ वारिधि तें थल होइ (श) सस्त्र
ते कमल होइ ग्राम होइ बनतें।
कूप तें विवर होइ पर्वत तें धरा होइ, वासव (इन्द्र)
से दास होइ, हितु दुर्जन तें ?।

सिंघ तैं कुरंग होईं व्याल स्याल अंग होइ
विष तैं विहुष होइ माल अहि फन तैं।
विषम तें सम होइ संकट न व्यापै कोइ ऐसे
गुन होइं सत्यवादी के दरस तें॥

ब्रह्मचर्य व्रत का बड़ा सुन्दर वर्णन इस छन्द में पढ़िए :—

परदारा जब त्यागें ग्रही चौथो अणु व्रत पावे तब ही।
माइ(य)बहिनी पुत्री सम चित्त परदारा तुम जानेहु मित्र॥
अथवा सांपनि सी मन धरें दुख की खानि दूर परि हरें।
पानी बिनु मोती है जैसो सील बिना नर लागे तैसो॥
जो अपजस की डंक बजावत लावत कुल कलंक परधान।
जो चारित्र को देत जलांजलि गुनवन को दावानल दान।
जो सिव पंथ को वारि बनावत,
आवत विपति मिलन के थान।
चितामणि समान जग जो नर,
सील खान निज करत मिलान॥
ज्ञान ध्यान व्रत संयम धरना,
यज्ञ विधान शुभ तीरथ करना।
पूजा दान बहु कोटिक करें सील बिना नहीं फल को धरें॥
रावन आदि जु क्षय भये पर नारि के काज।
सेठ सुदर्शन सील तें पायो सिव पुर राज॥
निज नारि पुन छोडो जानि आठें पाचें चौदसी मानि।
दिवसै पुनि छोड़ें निज हेत चौथो अणु व्रत धरहु सुचेत॥

दान के गुण दोष (भूषण दूषण) को कवि ने इन छन्दों में लिखा है :—

पांच दूषण :—

विलव विमुख अप्रिय वचन आदर चित्त न होइ।
दै करि पश्चाताप करैं दूषण पांचहु सोइ॥

पांच भूषण :—

आनद आदरि प्रिय वचन जनम सफल निज मानि।
निर्मल भाव जु अति करैं भूषण पंचहु जानि॥

दान के गुण :—

श्रद्धा ज्ञान अलोभता दया क्षमा निज शक्ति।
दाता गुण ये सत्य कहि करैं भाव सों भक्ति॥

पानी छान कर पीने पर कवि ने जल गालन की क्रिया का सुन्दर वर्णन किया है :—

सात लाख जल जोइनि भए, अरु अनंत त्रसतामें भए।
त्रस की दया जान जल गालु यह आचार करहु व्रत पाल॥
दीरघ हस्त सवा के जान पनहा एक हस्त के मान।
नूतन वस्त्र दूनौ पुरि कहै इहि विधि गालि धर्म व्यौपरै॥
दोइ दंड जलु गालौ रहै पुनि सो अनंत राशि अति लहै।
जब जब जलु लीजे निजु काम
तब तब जल छानौ निज धाम॥
जो जल छानि छानि घट धरौ
पुनि सो जलु जल में लै करौ॥
एक बूंद जो धरनी परै अनंत राशि जीव छिन में भरै।
धीमर पारिधि जानि जुग, जुग पाप
जोर्जे जिन (जे) किए।
इह उह एक प्रमान अन गाल्यौ बूंदक पिए॥

इस तरह कवि शिरोमणि पं० शिरोमणिदास जी ने अपनी कृति "धर्मसार सतसई" में तत्वज्ञान, धर्म, आचार एवं दर्शन की दृष्टि से "गागर में सागर भर दिया है। पाठकों से आशा है कि ऐसी श्रेष्ठतम रचनाओं का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करें और कर्म कलंक को मिटा डालने के पुण्य भागी बनें।

मेरी एक छोटी सी अपील पाठकों एवं श्रद्धालु सद्गृहस्थों से है कि वे दश लक्षण व्रत रत्नत्रय व्रत, षोडशकारण व्रत, अष्टान्हिका आदि व्रत किया करते हैं और फिर उसके उद्यापन में बहुत-सा दान सोने-चांदी के रूप में करते हैं, अच्छा होवे इस सोने-चांदी की जगह अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित कराने में उसी द्रव्य का उपयोग करें तो मैं समझता हूं कि व्रतोद्यापन का कई गुना फल प्राप्त होगा और सरस्वती की सेवा होगी और जैन साहित्य का भण्डार भरेगा। अतः प्रस्तुत कृति "धर्म सतसई" का प्रकाशन किसी व्रतोद्यापन के हेतु किया जा सकता है। जो श्रद्धालु श्रावक ऐसी अभिलाषा रखता हो निम्न पते पर मुझसे सम्पर्क साधें। मैं सेवा के लिए सदैव तत्पर रहूंगा। जिन वाणी का प्रकाशन देव शास्त्र गुरु की पूजा से कम नहीं होगा। आज के इस वैज्ञानिक तकनीकी युग में अप्रकाशित साहित्य को अधिक से अधिक प्रकाश में लाना ही सच्ची जिन पूजा और धर्म संरक्षण होगा।

श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर - शाहदरा,
नई दिल्ली-११००३२

क्या राजा श्रेणिक ने आत्म-हत्या की थी ?

(लेखक—रतनलाल कटारिया, केकड़ी)

नीचे जैन ग्रन्थों के आधार से इस पर समीक्षात्मक विचार किया जाता है :—

(१) भगवद् गुणभद्रकृत उत्तरपुराण पर्व ७४ के उपान्त्य में लिखा है :—

श्रावकोत्तम श्रेणिक ने गौतम गणधर से पुराण श्रवण कर क्रमशः उपशम क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। फिर गणधर देव ने बताया कि हे—श्रेणिक तूं तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा, नरकायु बद्ध होने से प्रथम नरक जावेगा फिर वहां से आकर महापद्म नामा तीर्थंकर होगा।[१]

(२) हरिषेणकृत कथाकोश कथा नं ६ और ५५ में लिखा है :—

राजाश्रेणिक चेलना से विवाह करने के पूर्व भागवत-वैष्णव धर्मी थे। उन्होने यमधर मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया जिससे नरकायु का उन्हे बन्ध हुआ। फिर मुनि-भक्ति से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। देवों ने भी उनके क्षायिक सम्यक्त्व की परीक्षा कर उन्हें मुक्ताहार भेंट किया। उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। वीर निर्वाण के बाद ३ वर्ष ८॥ मास व्यतीत होने पर मनो-वांछित महान भोगो के भोगकर राजा श्रेणिक नरक गये।

मानसेष्टान्महाभोगान् भुक्त्वाकालं विहाय च।
पूर्वोक्त श्रेणिको राजा सीमन्त नरकं ययौ ॥३०८॥

(३) प्रभाचन्द्र कृत कथाकोश कथा नं० २१ तथा ६०-३१ में लिखा है :—

राजा श्रेणिक वैष्णवधर्मी थे उन्होंने यशोधर मुनि-राज पर उपसर्ग कर नरकायु का बन्ध किया फिर उनसे तत्व सुनकर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया। त्रिगुप्ति मुनियों से वेदक सम्यक्त्व और महावीर स्वामी के पादमूल मे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

(४) ब्र० नेमिदत्त कृत कथाकोश कथा नं० १९ और १०७ मे भी ठीक प्रभाचन्द्र कृत कथाकोश के अनुसार वर्णन है।

(५) रामचन्द्र मुमुक्षु कृत—पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ३२ से ६१ मे लिखा है :—

निर्वासित श्रेणिक अपने साथी के साथ भागवतधर्मी जठराग्नि (भोजन भट्ट) के मठ मे पहुचे। जठराग्नि ने उन्हें भोजन कराया और वे उसके धर्म मे दीक्षित हो गए। वैष्णव धर्मी जठराग्नि की परीक्षा लेकर रानी चेलना ने उन्हें मिथ्या पाया। एक दफा राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनि के गले में सर्प डाला जिससे उन्हे नरकायु का बन्ध हुआ। मुनि द्वारा आशीर्वाद देने पर श्रेणिक उनके भक्त हो गए उन्हें उपशम सम्यक्त्व और जाति स्मरण हो गया। त्रिगुप्ति मुनियों से वेदक सम्यक्त्व और महावीर स्वामी से क्षायिक सम्यक्त्व तथा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध प्राप्त किया। श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की देवो ने परीक्षा ली और प्रसन्न हो श्रेणिक और चेलिनी की पूजा की उनका अभिषेक किया और उन्हे वस्त्राभूषण प्रदान किये।

श्रेणिक ने कुणिक को राजा बना दिया फिर भी उसने उन्हें लोहे के कटघरे मे बन्दी बना दिया। अपनी माता से अपने प्रति श्रेणिक के अपार स्नेह की बातें सुनकर कुणिक अपने पिता को बन्धन-मुक्त करने दौड़ा। श्रेणिक ने उसे मलिन-मुख आता देखकर विचार किया यह दुष्ट मुझे न जाने क्या और दुख देगा, तलवार की धार पर गिरकर प्राणान्त कर लिया। कुणिक ने शोक के साथ अग्नि संस्कार कर ब्राह्मणो को खूब दान दिया।

इस कथा का उद्गम बताते हुए अन्त मे ग्रन्थकार ने लिखा है कि—यह कथा भ्राजिष्णु की आराधना कर्णाटक टीका मे वर्णित क्रम के अनुसार उल्लेख मात्र से कही गई है। (भ्राजिष्णु का अर्थ हरि होता है अतः इससे कथाकार हरिषेण का संकेत हो।)

(६) श्रेणिक चरित्र (भट्टारक शुभ चन्द्र कृत) हिन्दी अनुवाद में लिखा है :—

पृष्ठ ३६—कुमार श्रेणिक गेरुआ वस्त्रधारी बौद्ध संन्यासियों के सघ मे गये उनके धर्म में आशक्त हो गये। यशोधर महामुनि पर उपसर्ग किया फिर भी मुनि ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो वे जैन धर्म में श्रद्धालु हो गये। पृष्ठ २३६ गौतम गणधर से पवित्र पुराण सुन तीनों सम्यक्त्व धारण कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। पृष्ठ २५७—गलती महसूस कर कुणिक ने श्रेणिक को काठ के पिंजरे में बन्द करा दिया। पृष्ठ २६१—फिर अपनी गलती महसूस कर कुणिक अपने पिता श्रेणिक को बन्धन मुक्त करने चला। उसे आता देख श्रेणिक ने विचारा—यह दुष्ट मुझे और क्या-क्या दुख देगा—प्राण देकर ही उससे छूट सकता हूं इस प्रकार दुखी होकर अपना शिर मारकर आत्महत्या कर ली। यह देख कुणिक चेलना हाहाकार करने लगे। कुणिक ने मरण संस्कार किया और ब्राह्मणों को खूब दान दिया।

(७) "भगवान् महावीर" (बाबू कामता प्रसाद जी कृत—वीर सं० २४५०) :—

हिन्दी ग्रन्थ में भी श्रेणिक चरित्र के अनुसार कथन किया है किन्तु २७ वर्ष बाद इसी ग्रन्थ को संशोधित रूप से प्रस्तुत किया तो श्री कामताप्रसाद जी "कुणिक का अपने पिता को बन्धन मुक्त करने जाना और श्रेणिक का आत्महत्या करना" आदि कथन कतई नहीं दिया है। श्री दिगम्बरदास जी मुख्तार ने भी "वर्धमान महावीर" पुस्तक में यह कथन नही दिया है।

(८) "जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' भाग ४ पृष्ठ ७१ :—

श्रेणिक—मगध का राजा था, उज्जैनी राजधानी थी। यह पहिले बौद्ध था पीछे अपनी रानी चेलनी के समझाने से जैन हो गया था। वीर का प्रथम भक्त बना। इसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। इसके जीवन का अन्तिम भाग बड़े दुख से बीता। इसके पुत्र ने इसे बन्दी बना लिया उसके भय से ही इसने आत्महत्या कर ली थी जिससे यह प्रथम नरक गया।

(९) भारतीय इतिहास एक दृष्टि (डा० ज्योति प्रसाद जी जैन):—

पृष्ठ ६३ : श्रेणिक के पिता का नाम हिन्दु पुराणों में शिशुनाग और बौद्ध साहित्य में भट्टि तथा जैन अनुश्रुति में उपश्रेणिक मिलता है। श्रेणिक को उसके पिता ने निर्वासित कर दिया वह जैनेतर साधुओं का भक्त बन गया और जैन धर्म से द्वेष करने लगा। कुछ जनश्रुतियों के अनुनार वह बौद्ध हो गया किन्तु यह बात असंभव सी प्रतीत होती है क्योकि महावीर के केवल ज्ञान प्राप्त (ईस्वी पूर्व ५५७) के पहले ही वह फिर से जैन धर्म का अनुयायी बन चुका था और उस समय किसी भी मतानुसार बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ नहीं किया था। ई० ५८७ के लगभग श्रेणिक मगध के सिंहासन पर बैठा था। ५२ वर्ष राज्य किया फिर ई० पू० ५३५ में श्रेणिक की मृत्यु हुई।

पृष्ठ ६५ : श्रेणिक ने कुणिक को राजपाट सौंप दिया कुणिक ने बौद्ध धर्मी देवदत्त के बहकाने से श्रेणिक को बंदीगृह में डाल दिया। चेलना से संबुद्ध हो वह श्रेणिक बन्धनमुक्त करने चला तो श्रेणिक ने समझा कि वह उसे मारने आ रहा है, दीवारो से सिर फोड़कर श्रेणिक ने आत्म हत्या कर ली।

(१०) 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' (श्वे० आ० हस्तिमल जी कृत सन् १९७१)—

पृष्ठ ५१५-१७ : वीर निर्वाण से १७ वर्ष कुणिक मे अपने १० भाइयों को मिला महाराज श्रेणिक को कारागृह मे डाल दिया।

चेलना के गर्भ में जब कुणिक था तब उसे दोहद हुआ कि मैं श्रेणिक के कलेजे का मांस खाऊं। चेलना ने गर्भस्थ शिशु को गिराने का प्रयत्न किया किन्तु गिरा नहीं। जन्म के पश्चात् उसे कचरे की ढेरी पर डलवा दिया मुर्गे ने उसकी अंगुली को काट खाया इससे वह पक गई। पुत्र मोह से श्रेणिक ने उसे ढूंढकर मंगवा लिया और खुद उसकी अंगुली चूस कर उसे ठीक किया।

यह प्रसंग चेलना ने कुणिक को सुनाया तो वह कुल्हाड़ी लेकर श्रेणिक के बन्धन काटने को दौड़ा । श्रेणिक ने आशंका से भीत हो पितृ हत्या से प्रिय पुत्र को बचाने के लिए अपनी अंगूठी का ताल पुट विष खाकर प्राण त्याग दिए । पूर्वोपार्जित निकाचित कर्म बन्ध के कारण वह प्रथम नरक में गया ।

समीक्षा

ऊपर १ से लेकर ४ तक के प्रमाणों मे कही भी श्रेणिक की आत्महत्या का किंचित् भी उल्लेख नही है । प्रमाण नं, २ तो इष्ट भोगों को भोगकर श्रेणिक का मरना बताया है; कैदी होकर आत्महत्या करना नही बताया है । यह प्रमाण विशेष प्राचीन है । 'प्रमाण नं० ५ तलवार की धार पर गिर कर मरने की बात कही है वहां भी 'आत्म-हत्या' शब्द का प्रयोग नही किया है । दूसरी बात यह है कि—राजा श्रेणिक तो बन्दी था एकाएक उसके पास तलवार कहां से आ सकती है ? और फिर तलवार की धार पर गिरने की बात भी असगत है, वह तो तलवार से अङ्गच्छेद ही करता उस पर गिरता क्यों ?

प्रमाण नं० ६ लिखा है कि—"अपना शिर मारकर श्रेणिक ने आत्महत्या कर ली" । मूल संस्कृत में यहां कैसा कथन है यह ग्रंथाभाव से हम नही कह सकते । श्रेणिक लकडी के कटघरे में बद था । अतः उस पर शिर मारने से ही तत्काल मरने की बात कुछ संगत सी प्रतीत नहीं होती क्योंकि कुणिक तो बहुत शीघ्र भगा हुआ आ रहा था इतने कम समय में यह सम्भव नही था ।

प्रमाण नं० ७-८-९ मौलिक नही है ये प्रमाण नं० ६ के आधार से ही निर्मित हैं । प्रमाण नं० ७ में तो बाबू कामता प्रसाद जी ने द्वि० संस्करण मे इस 'आत्महत्या' आदि के कथन को ही हटा दिया है । शायद यह उन्हें आचार्य सम्मत (प्रामाणिक) ज्ञात नही हुआ ।

प्रमाण नं० १० में भी 'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग नहीं है ।

शास्त्रों में बताया है कि—राजा श्रेणिक ने समव-शरण सभा में ६० हजार प्रश्न किए थे । वे भगवान् महावीर के प्रमुख श्रोता थे । इसी से उत्तर पुराणकार ने उन्हें 'श्रावकोत्तम' लिखा है । वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि और तीर्थंकर प्रकृतिबद्ध महापुरुष थे । उनकी मृत्यु को आत्महत्या बताना सम्यक् प्रतीत नहीं होता । जब वे बहुत वर्षों तक कारागृह या पिंजरे में बन्द थे तभी दु.खों से सन्तप्त होकर वे शिर फोड़कर, तलवार की धार पर गिर करके अथवा विष खाकर प्राणान्त कर लेते तो फिर भी उन पर आत्महत्या का आरोप संगत हो सकता था किन्तु तब तो उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया । उन्होंने यह कृत्य तब किया जब कुणिक को उन्होंने अपने को मारने के लिए आते हुए देखा । उन्होंने विचारा होगा कि यह दुष्ट न जाने कैसे दुख दे के मुझे मारे जिससे मेरे परिणाम अत्यन्त कलुषित हो जायें इससे तो अच्छा है कि खुद अपने हाथ से प्राणान्त कर लू ताकि न इसे पितृहत्या का पाप न लगे और न कोई अन्य झंझट हो । श्रेणिक का यह प्रयत्न प्रतिरोधात्मक था । अगर वे खुले होते तो अवश्य मुकाबला करते । जीवन से हारकर या थक कर उन्होंने प्राणांत नही किया था किन्तु विकट परिस्थिति से विवश होकर उन्होने मृत्यु का वरण किया था । जैसे क्षत्रियाणिया युद्ध मे अपने पतियों के हार जाने पर आक्र-मणकारियो के द्वारा अपनी गति खराब नहीं की जावे इस खयाल से अग्नि कुण्ड मे कूदकर जौहर (वीरव्रत) अङ्गीकार कर अपने प्राण दे देती हैं । जिस तरह यह आत्महत्या नही है वैसे ही श्रेणिक की मृत्यु भी आत्महत्या कायरता नही है ।[२] विद्वानों को गम्भीरता से इस पर मनन-चिन्तन कर अपना समुचित निष्कर्ष प्रकट करना चाहिए ।

यहां प्रसगोपात्त कुछ अन्य बातों पर भी विचार दिया जाता है :—

(१) पुण्याश्रव कथाकोश (जीवराज ग्रन्थमाला) पृष्ठ ३२ में हिंदी अनुवाद ने जठराग्नि का अर्थ ब्रेकेट में बुद्धगुरु दिया है और श्रेणिक द्वारा उनका धर्म ग्रहण करना बताया है । जबकि मूल ग्रन्थ में जठराग्नि को भागवत धर्मी—वैष्णव धर्मी बताया है कहीं भी बुद्ध धर्मी नही । हरिषैण-प्रभाचन्द्र नेमिदत्त के कथाकोशों में भी इस प्रसंग में श्रेणिक को चेलना से विवाह करने के पूर्व, भागवत-वैष्णव धर्म ही बताया है बुद्ध धर्म नहीं । उस समय तक तो बुद्ध का धर्म ही प्रचलित नहीं हुआ था ।

प्रमाण नं० ६-७-८ में जो इस प्रसंग में श्रेणिक को बौद्ध धर्मी लिखा हैं वह संगत नही है।

प्रमाण नं० ५-६ में श्रेणिक की मृत्यु पर कुणिक द्वारा ब्राह्मणों को दान देना भी उसके वंश से वैष्णव धर्म के स्थान को सूचित करता है बौद्ध धर्म को नहीं।

(२) इसी पुण्याश्रव कथा कोश पृ० ५८ मे लिखा है कि—"श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए दो देव गए थे वे राजा श्रेणिक के शिकार खेलने के जाने के मार्ग में नदी किनारे बैठ गए।"

यहां सहज शंका होती है कि—क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर भी राजा श्रेणिक शिकार खेलने जैसे दुर्व्यसन में कैसे लिप्त रह सकता है? हरिषेण कथा कोश कथा न०.९ में इस प्रसग में लिखा है कि राजा श्रेणिक तब सरोवर की शोभा देखनेके लिए गया था (शिकार खेलने के लिए नही) इससे पुण्याश्रव कथा कोश का कथन गलत सिद्ध होता है।

(३) पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ५६ में लिखा है कि रानी चेलनी के गर्भ मे जब कुणिक था तब उसे दोहल हुआ श्रेणिक के वक्षस्थल को चीरकर उसका रक्तपान करूं। राजा ने चित्रमय स्वरूप मे उसकी इच्छा पूरी की। प्रमाण नं० १० मे भी ऐसा ही लिखा है तथा यह भी लिखा है कि चेलनी ने गर्भस्थ शिशु को गिराना चाहा पर वह गिरा नहीं। यहां भी शंका होती है कि—जैन धर्म की दृढ़ श्रद्धानी महारानी चेलना कैसे मांस भक्षण और भ्रूण हत्या का प्रयत्न कर सकती है? और क्षायिक सम्यक्त्वी श्रेणिक उसमें कैसे सहकारी हो सकते हैं। कदापि नही। यह भी कथाकारो की अविचारित रम्यतायें हो हैं निर्दोष चरित्र-चित्रण नहीं। प्राचीन कथाकारों ने यह कथांश दिया ही नहीं है।

(४) पुण्याश्रव कथा कोश पृ० ५९ में श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की देवों द्वारा परीक्षा लेने की जो कथा दी है वह भी बड़ी विचित्र है, वह सिद्धांत-सम्मत प्रतीत नही होती' समय मिलने पर उस पर भी अलग से निबंध लिखने का विचार है। ऐसी बेतुकी कथा गुणभद्रादि प्राचीन मान्य आचार्यो ने कतई नही दी है।

(५) इसी तरह भरत चक्री का बाहुबली पर चक्र चलाना संकल्पी हिंसा नही है। तथा बाहुबली को जिस शल्य से केवल ज्ञान रुक गया था वह माया मिथ्या निदान नाम की शल्य नहीं थी किन्तु साधारण खटक थी। शास्त्रों के कथनों की संगति बिठाने से ही सिद्धांत अबाधित रहते हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. 'दश वर्ष सहस्राणि प्रथमायां' सूत्रानुसार प्रथम नरक की जघन्यायु दश हजार वर्ष है। सम्यक्त्वीकेतो वही होनी चाहिए। तब अभी तो अवसर्पिणी के ही पंचम षष्ठ कालके २१+२१—बियालीस हजार वर्ष हैं फिर उत्सर्पिणी के प्रथम द्वितीयकाल के २१+२१—४२ हजार मिलाकर कुल ८४ हजार वर्ष व्यतीत होने पर—उत्सर्पिणी के तृतीयकाल में कर्मभूमि आने पर श्रेणिक महापद्म तीर्थकर होंगे ऐसी हालत में क्या गणना में कोई गड़बड़ है। समाधान—गणना ठीक है किन्तु ऐसा सैद्धान्तिक नियम हैं कि—संज्ञी मनुष्य मरकर नरक जाता है तो उसकी वहां आयु ८४ हजार वर्ष से कम नहीं होती। असंज्ञियों की कम हो सकती है।

२. सम्यक्त्वी के सात भय (इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, मरण भय, अरक्षा भय, अगुप्त भय, अकस्मात् भय) नहीं होते तब श्रेणिक तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तब एकमात्र भय से उत्पन्न होने वाली आत्महत्या उनके कैसे बन सकती है? अर्थात् कदापि नही। जैसे समाधिमरण आत्महत्या नहीं है वैसे ही यह समझना चाहिए। आत्म धर्म मासिक पत्र नवंबर ८० और अप्रैल ८१ के अङ्कों में पू० स्वामी जी ने श्रेणिक की मृत्यु को आत्महत्या नहीं बताया है प्रत्युत लिखा है कि श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। अन्तिम समय में हीरा चूसकर या कारागार में सिर फोड़कर मरे थे, तथापि उस काल में भी उनकी दृष्टि ध्रुवत्व पर ही थी। ध्रुव स्वभाव—आत्मस्वभाव से नहीं छूटी थी द्रव्य दृष्टि की महिमा अपार है। धर्मी की दृष्टि सदा चैतन्य तल पर ही रहती है।

३. राजवार्तिक, अमितगति श्रावकाचार आदि में क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व बताया है।

४. उसमें भ्रष्टाचार-अत्याचार का समर्थन किया गया है।

पंच महाव्रत

□ श्री बाबूलाल बक्ता

जो भी व्रत होता है वह पर से, बाहर से निवृत्तिरूप होता है और स्व में प्रवृत्ति रूप होता है। एक सिक्के की दो साइड है, एक परसे निवृत्ति है दूसरी स्व में प्रवृत्ति है। त्याग का अर्थ है स्व का ग्रहण और स्व का ग्रहण का अर्थ है पर का त्याग। जब सिक्के की दो साइड हैं तो दोनों साथ रहती हैं। कहने को हम किसी साइड को ऊपर कर लेते हैं किसी को नीचे। अहिंसा माने अपने रूप हो जाना—सबको चेतना रूप देखना। सत्य का अर्थ सत्य बोलने से नही परन्तु जैसा वस्तु का स्वरूप है उसको उस रूप मे देखना है जैसे शरीर आत्मा का संयोग है तब एक रूप देखना झूठ है। बाहरी पदार्थ तो दुखी नहीं कर सकता उसे दुख देने वाला देखना झूठ है। जो चीज जैसी है वह वैसी ही दिखाई देना सत्य है।

अचौर्य:—पर का ग्रहण यही चोरी है और स्व का ग्रहण वह अचौर्य है।

ब्रह्मचर्य:—याने ब्रह्म का आचरण ब्रह्म का आचरण माने ज्ञाता दृष्टा रूप रहना।

अपरिग्रह:—पर की निष्ठा परिग्रह है, स्व की निष्ठा अपरिग्रह है।

भीतर में जब स्व का ग्रहण होता है तब बाहर जो कूडा-करकट होता है वह छूट जाता है। बाहर में क्या छूटा इसकी महिमा नही है परन्तु भीतर में क्या मिला इसकी है। जब अमृत मिलता है तो बाहर से फालतू छूट जाता है। बाहर से देखने वाला बाहर मे छूटा उसको देखता है क्योंकि उसके जीवन में पर की महिमा है उसके लिए वह छूटना बहुत मुश्किल है जो दूसरे ने छोड़ा है। इसलिए वह समझता है कि इसने बड़ा काम किया है। परन्तु जब तक अंतरंग में वह अमूल्य वस्तु नहीं मिले तब तक बाहर का छोड़ना आत्मकल्याण में कीमत नहीं रखता। कीमत तो जो भीतर में उपलब्ध हुआ उसकी है। ज्ञानी को अन्तरंग में जो मिला उसकी महिमा आती है, अज्ञानी को बाहर मे जो छोड़ता है उसकी महिमा आती है।

पंच महाव्रत मे भी अन्तरंग की उपलब्धि पूर्वक बाहर मे हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग है। सम्भावना यह है भीतर मे उपलब्धि क्या हुई।

जब तक समझता है कि यह मेरा है तब तक उसका प्रेम उसी तक सीमित रहता है। परन्तु जैसे उसको कोई अपना नही रहता तो सभी उसके हो जाते हैं तब वह दिवाल जो मेरा और तेरे का भेद कर रही है हट जाती है यह कहना चाहिए मेरा कोई नही रहा अथवा कहना चाहिए सभी मेरा हो जाता है। इसलिए उसका प्रेम असीम हो जाता है। जो एक घर को छोड़ता है सभी घर उसके हो जाते हैं। यह तभी सम्भव है जब पर से मेरा मन हटे तभी अहंकार का विसर्जन होगा।

अहं नगर में पर को नीचा देखना और नीचा दिखाने की भावना रहती है यही तो हिंसा का भाव है।

जीवों की रक्षा करना मात्र अहिंसा नही है जीवों की रक्षा तो वह व्यक्ति भी करता है जो कीड़ी को बचा रहा है जिसको उसके मरने पर अपना नरक और बचने में स्वर्ग दिखाई दे रहा है। उसको कीडी के प्रति प्रेम नही। उसका कीड़ी से कोई मतलब नही। उसका सम्बन्ध अपने स्वर्ग और नरक से है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं वहां अहिंसा कैसी। आप कह सकते हैं कि प्रेम तो राग का नाम है। ऐसा नही है। एक प्रेम जो किसी खास व्यक्ति के प्रति है; जैसे अपना कुटुम्ब, परिवार अथवा जिसको अपना मान रखा है उसके प्रति चाहे वह कोई जाति हो सम्प्रदाय हो, साधु-सन्यासी हो परन्तु पहले उसमें अपना माना है फिर राग बना है वह प्रेम तो राग का ही भेद है परन्तु एक प्रेम वह है जहां कोई अपना नहीं रहा जहां अपने मन की दीवाल नही रही। जहां समूचा संसार ही

अपना हो गया वहां वह प्रेम राग का अंश नही परन्तु अहिंसा का वाचक हो गया क्योंकि वहां वह प्रेममयी हो गया। वह प्रेम को सीधे लिए नहीं है परन्तु वह ब्रह्म-रूप है इसलिए स्व के लिए हो गया।

अहिंसा शब्द राग का नेगेटिव है। राग का निषेधक है परन्तु उसका पोजिटिव प्रेम है। जब अन्तरंग प्रेममयी हुआ तब हिंसा विसर्जित हो गई। हिंसा को छोड़ दो।

इसी प्रकार जब वस्तु स्वरूप, सत्य स्वरूप से जीव बचाने मात्र से हिंसा नहीं जायेगो। जीव को बचाया तो सही परन्तु क्या उसके प्रति आपके हृदय में जैसा अपने बच्चे के प्रति प्रेम हो जाता है वैसा प्रेम भरा हुआ है, अगर नहीं तो अहिंसा कैसे होगी। सवाल बाहर की तरफ का नहीं है कि जीव मरा कि बचा, सवाल है आपके हमारे हृदय में प्रेम का अथाह समुद्र बह रहा है कि नहीं। अगर प्रेम का समुद्र बह रहा है तो जीव के मरने पर भी अहिंसा है परन्तु वह प्रेम का समुद्र नहीं बह रहा है तो जीव के बचने पर भी हिंसा है। जहां ऐसा प्रेम बह रहा हो वहां बाहर मे हिंसा विसर्जित हो जाती है। वह जीव पर पैर नही रखता है यह सवाल नहीं है परन्तु वह अपने पर पैर रखकर नही चल सकता क्योंकि अब कोई पराया रहा ही नही।

इसी प्रकार जब भीतर में सत्य पकड़ में आता है या सत्य स्वभाव पकड़ में आता है तो बाहर का असत्य विसर्जित हो जाता है। यहां सत्य बोलने से सत्यव्रत का पालन होता है ऐसा नहीं है। यहां सवाल है कि भीतर में असत्य रहा ही नहीं। व्रत का मतलब है कि असत्य का व्यक्तित्व अब नहीं रहा जो रहा वह सत्य है और उस सत्य व्यक्तित्व से असत्य कैसे निकल सकता है। जो वस्तु जैसी की तैसी दिख रही है तो असत्य को जगह कहां रही वह तो तभी तक था जब विपरीत दिखाई दे रहा था।

निज स्वभाव पकड़ में आगया, अपनी चीज अपने को मिल गई तो पर का ग्रहण रहा ही नहीं। परका ग्रहण तभी तक था, जब तक अपने घर की खबर नही थी। अब अपना घर मिल गया और अपने घर में रहने लगा, तब पर घर का ग्रहण विसर्जित हो गया। पर में अगर प्रयोजन दिखाई दे रहा है, पर की महिमा आ रही है तब पर का ग्रहण है। सवाल पर को ग्रहण नहीं करने का नहीं है परन्तु पर में प्रयोजन दिखाई न देने का है। बाहर में अगर कोई चीज नहीं ली यही व्रत है तो उस व्रत की भी उतनी ही कीमत है जितनी उस वस्तु की। परन्तु धर्म की कोई कीमत नहीं होती इसलिए उसका आधार बाहर में, पर में नहीं है। उसका सम भाव पर से नहीं स्व से है।

भीतर में स्व में कमी होने लगी तो बाहर में स्त्री में कमी नहीं रही। रमण करने को जब भीतर नहीं था तो बाहर में रमण करने को स्त्री को खोजता था परन्तु जब रमण करने को अपना मित्र स्व भाव उपलब्ध हो गया तो बाहर किसमें रमण करें। आत्मा की सुन्दरता में जो लुब्ध हो गया उसको बाहर में स्त्री में सुन्दरता कैसे दिखाई दे। अगर अभी भी वह सुन्दर दिखाई दे रही है तो अंतरंग की सुन्दरता पकड में नही आई है।

जब आत्मा में मित्रता हुई तो पर की मित्रता नहीं रही, सवाल परिग्रह छोड़ने का नहीं है, सवाल तो मित्रता छोड़ने का है वह मित्रता स्व की मित्रता आये बिना नही जा सकती। परिग्रह में आनन्द दिखाई दे रहा है। परिग्रह में रस आ रहा है तो समझना चाहिए अभी अपने में रस नहीं आया अपने में आनन्द नहीं आया है। इसलिए पर में आनन्द खोज रहा है अपने में मिल जाता तो पर में क्यों खोजता। जब पर में आनन्द नहीं है तो न तो उसके ग्रहण से मिल सकता है न उसके त्याग से, परन्तु वह तो स्व के ग्रहण से मिलता है। और जहाँ स्व का ग्रहण है वहाँ पर का त्याग तो है ही।

कुछ लोग कहते हैं ऐसा अर्थ करने से लोग बाहरी त्याग नहीं करेंगे। स्वच्छन्दता तो हो जायेगी। यहाँ पर बात यह है कि जो स्व और पर के सूक्ष्म भेद को करने की बात कह रहा है वहाँ मोटा भेद, स्वधन परधन का भेद तो मोटा भेद है बहुत मोटा भेद है जो इतना मोटा भेद ही नहीं कर सकता वह स्व और पर के अत्यन्त सूक्ष्म भेद को कैसे देख सकेगा। उसके लिए तो और भी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। जहाँ स्वधन स्वस्त्री को भी पर रूप देखना है। वहाँ पर स्त्री और पर धन अपना कैसे हो सकता है। इसलिए जहाँ एक चेतना को छोड़कर सभी पर है स्वस्त्री-धन भी पर है वहाँ परधन-परस्त्री को अपने रूप देखने का सवाल ही नहीं रहता।

वाचनिक अहिंसा : स्याद्वाद

□ अशोककुमार जैन एम. ए.

सम्पूर्ण विश्व, जीव आत्मा, परमात्मा, अदृष्ट, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष आदि सभी दार्शनिक चिन्तन के विषय हैं। विभिन्न मनीषियों ने अपने २ दृष्टिकोणों से इनकी व्याख्या की है। दृष्टिकोणो की यह विभिन्नता ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप को सूचित करती है। इस चिन्तन के फलस्वरूप आरम्भ मे वस्तु तत्व के सम्बन्ध में प्राय: सभी मनीषियों के मन्तव्य अनन्त गुणधर्मात्मक दिखाई पडते हैं। वस्तु अनन्त धर्म वाली होने से उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण होना भी स्वाभाविक है। जब ये विभिन्न दृष्टिकोण वाले व्यक्ति अपने अभिप्राय के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोणो की उपेक्षा कर आग्रह से अपनी दृष्टि या मत को ही ठीक समझने लगते हैं और दूसरे दृष्टिकोणों का खण्डन भी करते हैं तब विभिन्न मतवाद खड़े हो जाते है। खण्डन-मण्डन की परम्परा का सम्भवत: यह दूसरा युग था, जो लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी में उभर कर सामने आया। इस अवधि में ही जैन परम्परा मे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद रूप दार्शनिक स्वरूप का विकास हुआ।

स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तु तत्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। प्रमाण[1] संग्रह के मंगलाचरण में अकलक देव ने लिखा है "परम गरम गम्भीर स्याद्वाद यह जिसका अमोघ लक्षण है ऐसा जिन भगवान का अनेकान्त शासन सदैव जयवन्त हो"। स्यात्माम में लगा हुआ शब्द प्रत्येक वाक्य के साक्षेप होने की सूचना देता है। स्यात् शब्द लिङ् लकार का क्रिया रूप पद भी होना है और उसका अर्थ होता है—होना चाहिए लेकिन यहां इस रूप मे यह प्रयुक्त नही है। स्यात् विधि लिङ में बना हुआ तिष्ठन्त प्रतिरूपक निपात है। विधि लिङ में इससे संशय, प्रशंसा, अस्तित्व, प्रश्न, विचार, अनेकान्त आदि कई अर्थ होते हैं जिसमें से यहां मात्र अनेकान्त ही ग्रहण किया जा सकता है। निपात शब्द के दो अर्थ होते हैं एक द्योतक और दूसरा वाचक। जैन क्षेत्र मे स्यात् निपात के दोनो अर्थ गृहीत हैं क्योंकि स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक भी होता है और वाच्य भी। स्वामी समन्त भद्र कहते है कि स्यात् शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण वाक्यो में अनेकान्त का द्योतक होता है और गम्य अर्थ का विश्लेषण होता है। स्यात् शब्द निपात है और वह केवलियों को अभिमत है।

प्रो० बल्देव उपाध्याय[1] "स्यात्" शब्द का अनुवाद शायद या सम्भवत. करते है परन्तु न तो यह शायद, न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है किन्तु सुनिनिश्चित दृष्टिकोण का है। शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य के प्रतिषेध करने में वह निरकुश रहता है। इस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य (स्यात्) करता है। वह कहता है कि रूपवान घट) वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे पर वह "रूपवान ही है" यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नही कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्यरूप से कहे यहां तक कोई हानि नही। पर यदि वह उससे आगे बढ़कर "अपने ही स्वार्थ" को सब कुछ मानकर शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तु स्थिति का विपर्यास करना है। (स्यात्) शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोण से व्यर्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुत: जड़ और चेतन सभी मे अनेक धर्म विद्यमान है। उन सबका एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षा के अनु-

सार एक समय में किसी एक को मुख्यतया लेकर कथन किया जाता है उसको दार्शनिक शब्दावली में "कथंचित् अपेक्षा" से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धांत दार्शनिक मतवादों के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टि-कोण भिन्न-भिन्न रूपो में हमारे सामने प्रस्तुत रहता है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरण में स्याद्वाद शब्द का प्रयोग किया है। सिद्धसेन विरचित न्यायावतार में तो स्पष्ट रूप से स्याद्वाद श्रुत का निर्देश करते हुए उसको सम्पूर्ण अर्थ का निश्चय करने वाला कहा है। भट्टाकलकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाए हैं उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम है नय। सम्पूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और वस्तु के एकदेश के कथन को नय कहते हैं। स्वामी समन्त भद्र ने स्याद्वाद का लक्षण लिखते हुए कहा है सर्वथा एकान्त को त्याग कर अर्थात् अनेकान्त को स्वीकार करके सात भगो और नयो की अपेक्षा से, स्वभाव की अपेक्षा सत् और परभाव की अपेक्षा असत् इत्यादि रूप मे कथन करता है उसे स्याद्वाद कहते '-नि" शब्द मे चित्, पट इत्यादि प्रत्ययों को जोडने से जो रूप बनते हैं जैसे किंचित्, कथचित्, कथ पद ये सब स्याद्-वाद के पर्याय शब्द हैं। "स्याद्वाद के बिना हेय और उपादेय की व्यवस्था नही बनती।" अकलकदेव ने "अने-कान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है।"

अनेकान्त के द्योतन के लिए सभी वाक्यो के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है उसके बिना अनेकान्त का प्रकाश सम्भव नही है। शायद कहा जाए कि लौकिक जन तो सब वाक्यों के साथ स्यात् पद का प्रयोग करते देखे नही जाते इसका उत्तर देते हुए अकलकदेव ने कहा है कि यदि शब्दो का प्रयोग करने वाला पुरुष कुशल हो तो स्यात्कार और एवकार का प्रयोग न किए जाने पर भी विधिपरक, निषेधपरक तथा अन्य प्रकार के वाक्यों में स्याद्वाद और एवम् की प्रतीति स्वय हो जाती है। जो वादी वाक्य के साथ "स्यात्" पद का प्रयोग करना पसन्द नही करते उन्हें सर्वथा एकान्तवाद को मानना पड़ेगा और उसके मानने में प्रमाण से विरोध आता है। अतः इस विरोध को दूर करने के लिए समस्त वाक्यों में "स्यात्" पद का प्रयोग करना चाहिए। इसी तरह वाक्य में एवकार 'ही' का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा, क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है जैसे उपयोग लक्षण जीव का ही है इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है अतः इसमें से ही को निकाल दिया जाए तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है और ऐसा होने से वाह्य अर्थ की व्यवस्था का लोप हो जाएगा।

जैन दर्शन का स्याद्वाद सभी दार्शनिक सिद्धांतों को अपने में समेटे हुए है, इसी कारण यह स्याद्वाद का सिद्धांत सभी दार्शनिकों को मान्य भी है। लेकिन जैन दर्शन का स्याद्वाद जो समन्वयवाद था, जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखता है वह शंकर के अद्वैत वेदान्त के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भिन्न है। जैन दर्शन का स्याद्वाद भौतिक समन्वयात्मक है, जबकि शंकर का अद्वैतवाद आध्यात्मिक समन्वयात्मक है। जैन दर्शन स्याद्वाद की बात तो करता है, लेकिन पूर्व ज्ञान को कौन निर्धारित करेगा इसके उत्तर में वह सबको समान दर्जे पर रखता है जबकि शंकराचार्य उस समन्वय से उठकर ब्रह्म को स्थापित करते हैं, तो यह धर्मनिष्ठा है। यही पर दर्शन के विचार की उदारता में विश्व में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सच्चे एवं गहन दार्श-निक की परीक्षा अनुयायियों की सख्या के बल पर तथा उदारता पर निर्भर है। इस संसार में कोई भी बात झूठी नही है। सबको समझने की सच्ची दृष्टि होनी चाहिए, वह झूंठी न हो। अगर दृष्टि ही झूठी हो तो सृष्टि कोई चीज सच्ची नही है।

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ स्याद्वाद की बड़ी समानता है। ये पाश्चात्य तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है उसे हम विचार प्रसग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता उनके विचार प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं। विचार परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है।

साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण संभव भी नही है। जैन स्याद्वाद को तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार होता है—विज्ञानवादी और वस्तुवादी। जैन मत को यदि सापेक्षवाद माना जाय तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा क्योकि जैन दार्शनिक मानते है कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नही, बल्कि वस्तुओ के धर्मो पर भी निर्भर है। स्याद्वाद सिद्धात से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बड़ी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारो को नगण्य नही समझते, वल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हे भी सत्य मानते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनो मे ससार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। इसका कारण है कि उनमे एक दृष्टि नही है। दृष्टिभेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया जाता है।

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोण से वस्तु का प्रतिपादन करके पूरी वस्तु पर एक ही धर्म के पूर्ण अधिकार का निषेध करता है। वह कहता है कि वस्तु पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार है। विशेषता केवल यही है कि जिस समय जिस धर्म के प्रतिपादन की विवक्षा होती है उस समय उस धर्म की मुख्य रूप से ग्रहण करके अन्य अविवक्षित धर्मों को गौण कर दिया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को बताया है कि जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी मथानी की रस्सी के एक छोर को खीचती है और दूसरे छोर को ढीला कर देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन करके इष्ट तत्व घृत को प्राप्त करती है उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ भी सिद्ध करती है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त सुव्यवस्थित और व्यावहारिक है। वह अनन्तधर्मात्मक वस्तु की विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यवस्था करता है तथा उस व्यवस्था में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आती अतः वह सुव्यवस्थित है। इसके साथ ही स्याद्वाद व्यावहारिक भी है। वह सदाकाल मे उपयोगी है इसके बिना किसी भी प्रकार का लोक व्यवहार नही चल सकता। लोक में जितना भी व्यवहार होता है वह सब आपेक्षिक व्यवहार का नाम ही स्याद्वाद है। पिता, पुत्र, माता, पत्नी आदि व्यवहार भी किसी निश्चित अपेक्षा से ही है। अतः अनेक विरोधी विचारों का समन्वय किये बिना लौकिक जीवन यात्रा भी नही बन सकती है। विरोधी विचार मे समन्वय के अभाव में सदा विवाद और सघर्ष होते रहेंगे तथा विवाद या संघर्ष का अन्त तभी होगा जव स्याद्वाद के अनुसार सब अपने २ दृष्टिकोणो के साथ दूसरे के दृष्टिकोणों का भी आदर करेंगे। अनेकान्त दर्शन से मानस समता और विचार शुद्धि होती है तथा स्याद्वाद से वाणी मे समन्वय-वृत्ति और निर्दोषता आती है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र 'स्यात्कार सत्य लाञ्छनः'' कहकर स्याद्वाद को सत्य का चिन्ह या प्रतीक बतलाया है।

विरोधी धर्म मे सापेक्ष होने के कारण ही आपने शब्द विरुद्ध धर्मो युक्त वस्तु का स्पर्श करते हैं क्योंकि स्याद्वाद की मुद्रा से रहित शब्द वस्तु के एकदेश में ही शक्ति के बिखर जाने से स्खलित हो जाते हैं ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र भगवन् की स्तुति करते हुए कहते हैं।[१०] स्याद्वाद पदार्थों के जानने की एक दृष्टिमात्र है। स्याद्वाद स्वयं अन्तिम सत्य नही है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुंचाने के लिए केवल मार्ग दर्शन का काम करता है। स्याद्वाद से केवल व्यवहार सत्य के जानने मे उपस्थित होने वाले विरोधों का ही समन्वय किया जा सकता है इसलिए जैन दर्शनक रो ने स्याद्वाद को व्यवहार सत्य माना है। व्यवहार सत्य के आगे भी जैन सिद्धान्त में निरपेक्ष सत्य माना गया है जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों में केवल ज्ञान के नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में जहां आचार में अहिंसा को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार वैचारिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है जो स्याद्वाद के सिद्धान्त के रूप में अवतरित होकर मानव मात्र को समीचीन पथ पर अग्रसित करके तथा एकान्त पथ से विमुख करके वस्तु के वास्तविक स्वरूप का प्रतिबोध कराता है।

निकट जैन मन्दिर, बिजनौर (उ० प्र०)

एक महत्वपूर्ण अप्रकाशित अपभ्रंश रचना : अमरसेन चरिउ

डा० कस्तूरचन्द्र "सुमन"

राजस्थान प्राचीन काल में धार्मिक एव साहित्यिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस प्रान्त मे हस्तलिखित ग्रन्थो के अनेक भण्डार है, जिनमे अनेक महत्वपूर्ण कृतियां प्रकाशन की वाट जोह रही है। आमेर-शास्त्र भण्डार उनमे एक है।

इस शास्त्र भण्डार मे लगभग ३७०० हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श भापा मे लिखे गये हैं। समाजोपयोगी है। उनसे समाज परिचित हो इस सन्दर्भ मे यह इस प्रकार का प्रथम प्रयास है।

अपभ्रंश भाषा मे लिखा गया अमरसेनचरिउ इस शास्त्र भण्डार का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कवि माणिक्कराज इस काव्य के रचयिता थे। सोलहवी शताब्दी की इस रचना मे जैन सिद्धान्तो को कथाओं के माध्यम से समझाया गया है। रोचक है। साथ ही कल्याण का हेतु भी भी।

इस कृति का प्रथम परिचय देने का श्रेय जैन विद्यासस्थान, श्री महावीर जी के अधीनस्थ आमेरशास्त्र भंडार को प्राप्त है। अब तक किसी अन्य भण्डार से यह उपलब्ध नही हुआ है, यदि किसी भण्डार को इस कृति के होने का गौरव प्राप्त हो तो कृपया लेखक को सूचित कर अनुग्रहीत करें।

इस पाण्डुलिपि के ९६ पत्र हैं। सम्पूर्ण पत्र ११ सेंटीमीटर लम्बा और ४ सेंटीमीटर चौड़ा है। पत्र के चारो ओर हाँसिया छोड़ा गया है। बायी ओर का हासिया एक सेंटीमीटर है और दायी ओर का एक सेंटीमीटर से कम। ऊपर नीचे भी लगभग आधा-आधा सेंटीमीटर रिक्त स्थान है। लम्बाई की दोनों ओर पत्र हाँसिये रूप में रेखांकित है। रेखांकित अशो के मध्य प्रत्येक पत्र पर ९ पंक्तियां है, और प्रत्येक पक्ति मे लगभग ३०-३५ अक्षर। पत्र दोनो ओर लिखे गये है। रचना अपूर्ण हैं। प्रथम पत्र नही है। अपूर्ण होते हुए भी कथा मे कोई व्यवधान नही आता है।

यह ग्रन्थ सात सन्धियो मे समाप्त हुआ है। अन्त में प्रशस्ति के रूप मे लिपिकार का परिचय भी है। ग्रन्थ की प्रथम संधि में बावीस कडवक और तीन सौ छयत्तर यमक है। इसी प्रकार दूसरी सन्धि मे तेरह कड़वक और दो सौ ग्यारह यमक तीसरी मे तेरह कडवक और एक सौ सतत्तर यमक, चौथी सन्धि मे तेरह कडवक और दो सौ पचास यमक, पांचवी सन्धि मे चौबीस कड़वक और तीन सौ सतासी यमक, छठी सन्धि मे चौदह कडवक और एक सौ सैंतालिस यमक, तथा सातवी सन्धि में पन्द्रह कडवक और एक सौ पचान्नवे यमक है। इस प्रकार ग्रन्थ में कुल सात सधियां और सधियो मे एक सौ १४ कडवक तथा कड़वकों मे एक हजार सात सौ तेतालीस यमक हैं। सन्धियों के आरम्भ ध्रुवक छन्द से और अन्त घत्ता से हुए हैं। कड़वक के अन्त में घत्ता छन्द व्यवहृत हुआ है।

कवि स्वयम्भू के अनुसार यमक दो पदों से निर्मित छन्द है। और कडवक आठ यमको का समूह। उन्होंने यह भी कहा है कि यदि पदो मे सोलह मात्राएँ हों तो वह पद्धड़िया छन्द हैं। घत्ता छन्द मे प्रथम और तृतीय पाद मे नौ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद मे चौदह मात्राएँ होती है। इस छन्द मे बारह-बारह मात्राएँ तथा कभी-कभी सोलह-सोलह मात्राएँ और प्रथम एवं द्वितीय पाद के आदि मे गुरु वर्ण भी मिलता है।[1]

प्रस्तुत कृति में यमक सोलह मात्राओं से निर्मित दिखाई देते हैं। अत: उक्त पद्धड़िया छन्द की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य मे कहा जा सकता है कि इस रचना मे पद्धड़िया छन्द का व्यवहार हुआ है। कड़वकों में निर्धारित यमक सख्या का उल्लंघन किया गया है। आठ से चौबीस यमक तक एक कड़वक में मिलते हैं। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कड़वक की निर्धारित न्यून सख्या का किसी भी

कड़वक में उल्लंघन नहीं किया गया है। सर्वत्र आठ से न्यून यमक किसी भी कड़वक में नहीं हैं।

घत्ता छन्द के इसमें बिभिन्न रूप मिलते हैं। प्राय: १०, ८, १३, मात्राओं पर विराम देकर इस छन्द मे रचना की गई है। ११ और १३ मात्राओं पर (१.६) तथा इसके विपरीत १३, ११ मात्राओं पर विराम देकर भी (दे० १.१६) इस छन्द की रचना की गयी है। हिन्दी भाषा मे सोलह मात्राओ से चौपाई तथा ११, १३ मात्राओ से सोरठा और १३, ११ मात्राओ से दोहा छन्द का निर्माण होता है। अपभ्रंश भाषा मे चौपाई के समान पद्धड़ियां छन्द है तथा दोहा और सोरठा के रूप में घत्ता छन्द। रामचरितमानस मे व्यवहृत चौपाई, दोहा, सोरठा छन्दो से ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि तुलसी ने अपभ्रंश के पद्धड़ियां छन्द को चौपाई के रूप मे और घत्ता छन्द को दोहा तथा सोरठा छन्दो के रूप में अपनाया हो।

कवि ने जैसा विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ के लिखाने वाले देवराज चधरी का दिया है, वैसा आत्म परिचय नही दिया है। उन्होने गुरु परम्परा का उल्लेख अवश्य किया है। गुरु परम्परा मे उन्होने क्रमश. क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और और पद्मनन्दि आचार्यों के नामोल्लेख किये हैं। पद्मनन्दि कवि के गुरु थे। वे गुरु-पदावली में प्रवीण, निर्ग्रन्थ, शील की खानि, दयालु, मिष्ठभाषी, और तप से क्षीण (तपस्वी) थे।[2]

ग्रंथ के अन्त में कवि ने दादा गुरु आचार्य हेमचन्द्र का स्मरण करते हुए उन्हें मोह-मत्सर के त्यागी, शुभ ध्यानियों में प्रधान आचार्य कहा है तथा अपने गुरु पद्मनन्दि को तप रूपी तेज से युक्त प्रकट करते हुए अपने को उनका शिष्य बताया है। कवि के अतिरिक्त पद्मनन्दि के शिष्यों में एक देवनन्दि का नाम भी मिलता है। देवदन्दि को ग्यारह प्रतिमाधारी, राग-द्वेष, मद-मोह के विनाशक, शुभध्यानी और उपशमभावी कहा गया है।[3]

इस उल्लेख के आलोक मे देवनन्दि कवि के गुरु-भाई ज्ञात होते हैं। वे क्षुल्लक या ऐलक हो गये थे। कवि का जिस पार्श्वनाथ मन्दिर में निवास था वहां दो विद्वान् और भी रहते थे—शान्तिदास और जसमलु। दोनो मे जसमलु गुणवान् और ज्येष्ठ था, शान्तिदास उसका छोटा भाई था।[4] इन पंडितों के रहते हुए भी इस ग्रन्थ की रचना के लिए कवि माणिक्कराज से ही निवेदन किया जाना कवि के विशेष प्रतिभाशाली होने का प्रतीक है।

कवि सुरीली वाणी से नगरवासियो को सुखदायक सिद्धान्त के अर्थ-चिन्तक थे। वे सरस्वती के निवास, जिन देव और जिन गुरु के भक्त', बहुश्रुत और गोष्ठियों के मार्ग दर्शक थे। पंडित सूरा आपके पिता थे, तथा आपका नाम माणिक्कराज था। कवि ने स्वयं को पडित कहकर सम्बोधित किया है।[5] कवि के पिता का नाम 'बुधसूरा' था, श्री प० परमानन्द शास्त्री का यह कथन[6] तर्कसंगत प्रतीत नही होता है। कवि को पंडित कहा जाना तथा पिता के नाम में 'बुध' शब्द का होना इस तथ्य का प्रतीक है कि कवि के पिता भी पडित थे।[7] अतएव कवि के पिता का नाम सूरा था और पंडित उनकी उपाधि थी। यह भी प्रतिभाषित होता है कि कवि को पडिताई पैतृक परम्परा से प्राप्त हुई थी। अखडित शील से युक्त कहे जाने से कवि बालब्रह्मचारी रहे ज्ञात होते हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण हेतु आपसे ही आग्रह किये जाने मे यहा दो हेतु प्रतीत होते हैं—प्रथम तो वश परम्परागत पडित्य और दूसरे कवि का प्रतिभासम्पन्न होने के साथ बालब्रह्मचारी होना। कवि की अपरकृति अपभ्रंश भाषा में लिखित 'नागसेनचरिउ' से भी उनके पिता का नाम बुधसूरा—पडित सूरा ही ज्ञात होता है। यह भी विदित होता है कि उनकी मां का नाम दीवा था तथा वे जयसवाल कुल मे उत्पन्न हुए थे।[8]

मूलत: कवि कहां के निवासी थे यह नहीं कहा जा सकता है, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता हैं 'अमरसेनचरिउ' की रचना करते समय रहियासु (रोहतक) में रहते थे।[9] इसकी सूचना के प्रेरणा स्रोत देवराज चोधरी भी इसी नगर के निवासी थे।[1] उनके निवास स्थान के सम्बन्ध में उपलब्ध इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में ज्ञात होता है कि कवि मूलत: रोहियासपुर संभवत: वर्तमान रोहतक के निवासी नहीं थे। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि कवि ने अपनी इस कृति मे[10] कवि रइधू कृत 'पासणाहचरिउ' कृति के कुछ अश का[11] नगर वर्णन प्रसग में उपयोग किया है। अत: निर्विवाद रूप से यह तो कहा जा सकता है कि कवि माणिक्कराज पासणाहचरिउ

ग्रन्थ से परिचित थे। परिचय में आने के इनके दो ही अवसर प्राप्त होते हैं। प्रथम तो यह कि कवि रइधू के समान ग्वालियर या उसके किसी निकटवर्ती क्षेत्र निवासी हों और वे रइधू की साहित्यिक गतिविधियों से भी परिचय रहे हैं, जो कालान्तर में रोहतक आ बसे होंगे क्योंकि प्रस्तुत कृति में उपलब्ध बुन्देली शब्द उपलब्ध होते हैं। दूसरी यह सम्भावना भी उदित होती है कि रइधू की कृति पासणाहचरिउ हो सकता है किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रोहतक ले जायी गयी हो। यदि इस संभावना को ठीक मानते हैं तो इससे भी कवि का ग्वालियर या उसके निकटवर्ती क्षेत्र का होना ज्ञान होता है, क्योंकि अन्य किसी रचना की पंक्तियों का स्वरचित पंक्तियो के रूप में कवि तभी उपयोग करेगा जब उसे यह विश्वास प्राप्त हो कि उक्त पंक्तियों के लेखक को इससे कोई अप्रसन्नता न होगी। चूंकि यह तभी संभव है जब परस्पर में अति आत्मीयता हो। और ऐसी आत्मीयता विना सहवास या निकट वास के संभव दिखाई नहीं देती। अतः इस सभावना से भी कवि का ग्वालियर या किसी उसके निकटवर्ती क्षेत्र का निवासी होना ज्ञात होता है।

रचना के अन्त में कवि ने लिखा है कि "परम्परा से जिस ज्ञान जिनचन्द्र सूरि ने सिद्ध किया था, उसे सूत्र रूप में मैंने सुन्दर एवं सुगम-सुखद भाषा में इस कृति को निबद्ध किया है।" इस उल्लेख से कवि माणिक्कराज जिनचन्द्र सूरि के विशेष कृतज्ञ रहे ज्ञात होते हैं। हो सकता है जिनचन्द्र कवि के विद्या गुरु और पद्मनन्दि दीक्षागुरु रहे हों।

रचना में कवि देव, शास्त्र और गुरु तीनों के श्रद्धालु ज्ञात होते हैं। इस ग्रन्थ के आदि में कवि ने देव के रूप में तीर्थंकरों का नामस्मरण किया ही है। गुरुपरम्परा का उल्लेख कर गुरुओं के प्रति जहां कवि ने कृतज्ञता प्रकट की है वहां वीर जिनेन्द्र के मुख से निकसित सारभूत भटारिका सरस्वती से प्रमाद वश किये गए आगम विरुद्ध कथन के प्रति या कोई अक्षर रह गया हो तो उसके प्रति क्षमा याचना भी की है।" अपने ही इतर ग्रन्थ में उन्होंने सरस्वती को सुयदेवी (श्रुतदेवी) भी कहा है।" गुरुश्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह गुरु-कृपा ही है जो कि मैं यह ग्रन्थ लिखकर प्रस्तुत कर सका।"

कवि विनय गुण के धनी थे, मानी नहीं, निरभिमानी थे। ऐसे सुन्दर काव्य की रचना करके भी वे स्वयं को जड़मति कहते हैं। काव्य मे हुयी अर्थ और मात्रा की हीनाधिकता के लिए वे न केवल श्रुतदेवी से क्षमा याचना कराते हैं अपितु विवुधजनों से भी।" आचार्य अमितगति ने भी इसी प्रकार की क्षमा याचना की है।" अतः प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में कवि ने पूर्व रीति का भली भांति निर्वाह किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने एक ओर जहां आत्मपरिचय प्रत्यक्ष रूप से न के बराबर दिया है, दूसरी ओर ग्रन्थ के प्रेरक का उल्लेख सविस्तार किया है। उन्होंने लिखा है कि जिनकी प्रेरणा एव निवेदन पर यह ग्रन्थ रचा गया था, वे चौधरी देवराज वैश्यों मे प्रधान, अग्रवाल कुलोत्पन्न, सिंघल (संगल) गोत्री, रोहतक निवासी थे। चौधरी चीमा जिनकी गाल्हाही नाम की भार्या थी, देवराज चौधरी के प्रपितामह थे। चीमा को बूल्हा नाम से भी सम्बोधित किया गया है। करमचन्द जिनकी भार्या का नाम दिवचन्दही था, देवराज के पितामह थे। करमचन्द के तीन पुत्र हुए थे— महणा गैरवण और ताल्हू। इनमें महणा के चार पुत्र हुए थे—देवराज, झाझू बुगना और छुट्टा या छुटमल्लु। इन चारो की मां का नाम खेमाही था। देवराज और उनकी भार्या णोणाही से दो पुत्र हुए थे - हरिवंश और रतनपाल। हरिवंश की भार्या का नाम मेल्हाही और रतनपाल की भार्या का नाम भूराही था। देवराज के छोटे भाई झाझू की चोखाही नाम की भार्या थी। इन दोनों के तीन पुत्र हुए थे— नागराज, गेल्हु और चाओ। नागराज की भार्या का नाम सूवटही था। देवराज के दूसरे छोटे भाई बुगना और उसकी भार्या डूगरही के चार पुत्र हुए थे—खेतसिंह, श्रीपाल, राजमल्ल और कुंभरपाल। देवराज के सबसे छोटे भाई जिन्हें संभवतः सबसे छोटा होने कारण छुट्टा छुटमल्लु कहा गया कहा गया होगा, उनकी भार्या का नाम फेराही था। इन दोनों के एक ही पुत्र हुआ था, जिसका नाम था दरगहमल्ल।

रोखण देवराज चौधरी के पिता महणा का अनुज

था इसकी भार्या का नाम था रामाही। इन दोनों के चार पुत्र हुए थे—मल्लु, चंदु वीणकंठ और लाउड़। इन चारों में मल्लु की कुलचंदही नाम की भार्या थी और इन दोनों के कीर्तिसिन्धु नाम का पुत्र हुआ था। चंदु की भार्या थी लूणाही। इन दोनों के मदनसिंह नाम का पुत्र हुआ था। वीणकंठ की पीमाही नाम की भार्या थी और नरसिंघु इनका पुत्र था। लाडण की भार्या का नाम था वीवो। इन दोनों के दो यत्र हुए थे—जोगा और लक्ष्मण। जोगा की भार्या का नाम था दीदाही और लक्ष्मण की भार्या का नाम था मल्लाही। लक्ष्मण और मल्लाही के हीरू नाम का एक पुत्र हुआ था।

ताल्हू इस बश मे देवराज चौधरी का चाचा था। ताल्हू की भार्या का नाम बालाही था। इन दोनों के दो पुत्र हुए थे—पद्मकांत और देवदास। पद्मकांत की इच्छावती नाम की भार्या थी। इन दोनों के महदास नाम का पुत्र युआ था। देवदास की भार्या का नाम रुधारणही था। धणमलु देवदास का पुत्र था। धणमलु की गजमल्लाही नाम की भार्या थी। इन दोनों के बायमल्लु नाम का पुत्र हुआ था।

इस प्रकार इस वंश परम्परा मे देवराज चौधरी के पूर्व उनके प्रपितामह तक का नामोल्लेख मिलता है और बाद की पीढ़ी में तीसरी पीढि तक।[८] नामों में स्त्रियों के नाम 'ही' से अन्त हुए हैं। इस वश के सभी लोग चौधरी कहे गए हैं जिससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह इस वंश के विरुद्ध रहा।

इस वंश परम्परा मे चचेब भाई के नाती का भी उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यह रचना उनकी वृद्धावस्था में लिखी गई होगी। कवि रइधू कृत पंक्तियों का[९] अपनी रचना अमरसेन-चरिउ में उपयोग करने से[१०] भी यही तथ्य प्राप्त होता है।

रचना काल :—इस ग्रन्थ के पूर्ण होने का समय वि० सं० १५७६ चैत्र सुदी पंचमी शनिवार, कृत्तिका नक्षत्र बताया गया है।[११] प्रस्तुत प्रति ग्रन्थ की रचना की रचना पूर्ण होने के एक वर्ष बाद की प्रतिलिपि है। इसे विक्रम सवत् १५७७ की कार्तिक वदि रविवार के दिन कुरुजांगल देश के सुवर्णपथ (सोनीपत) नाम नाम के नगर में काष्ठाषघ के माथुरान्वय-पुष्करगण के भट्टारक गुणभद्र की आम्नाय में उक्त नगर के (सोनीपत) निवासी अग्रवाल वंशी, गोयल गोत्री, पौरदरी जिन पूजा (इन्द्रध्वज विधान) के कर्ता साहू छल्हू के पुत्र साहू बाटू ने इस अमरसेन चरित्र शास्त्र शास्त्र की प्रतिलिपि की थी।[१२]

इस ग्रंथ की रचना रोहतक नगर में तथा प्रतिलिपि सोनीपत नगर में होने से यह प्रमाणित होता है कि सोनीपत के शास्त्रभण्डार में इस ग्रन्थ की प्रति अवश्य होगी। सोसीपत के धार्मिक पदाधिकारियों से निवेदन है कि लेखक को उक्त प्रति की उपलब्धि से अवगत कराने की कृपा करें।

विक्रम सं० १५७९ में रचित कवि की अपर कृति-नागसेन चरिउ से विदित होता है कि कवि के काल में शास्त्रों और शास्त्र-निर्माताओं का समादर था। शास्त्र पूर्ण लिखकर शास्त्र लिखाने वालों को जब हाथों में देते तब वे शास्त्रों को सिर पर चढ़ाते थे। उत्सव मनाते थे। और शास्त्र-निर्माताओं को वस्त्र, ककण, कुण्डल, मुद्रिकादि देकर बहु प्रकार से सम्मानित करते थे। कवि माणिक्कराज को भी ऐसा सन्मान प्राप्त हुआ था।[१३] उस समय के लोगों की यह गुणग्राहिता सराहनीय है।

जैनविद्यासंस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

संदर्भ-सूची

१. देखिये जैन विद्या-स्वयभू विशेषांक (जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी द्वारा प्रकाशित) अप्रैल १९८४ में प्रकाशित लेखक का लेख—"स्वयम्भू-छन्द एक समीक्षात्मक अध्ययन।"

२. हुउ बहु सद्दत्थह सुइ णिहाणु।
खिडं दुद्धरु णिज्जिउ पंचवाणु॥
विपणाण कलालय पारुपत्त।
उद्धरिय भव्व जे सम वि सत्त॥
संतइतयताहं मुणि - गच्छणाहु।
गयरायदोस संजइव साहु॥
जें ईरिय ग्रंत्थह कह पवीणु।
णियझाणें परमप्पयह लीणु।
तवतेयणियत्तणु कियउ खीणु।
सिरि खेमकित्त पद्धिहि प्रवीणु॥

सिरि हेमकित्ति जि हयउ णाणु।
तहु पट्टवि कुमरविसेणु णामु॥
णिग्गंथु दयालउ जइ वरिट्ठु।
जि कहिउ जिणागम भउ सुट्ठु॥
तहु पहिणि विहउ बुह पहाणु।
सिरि हेमचन्दु मय तिमिरभाणु॥
त यह धुरधरु वय पपीणु।
वर पोमणांदि जो तवह खीणु॥
तं पणविवि णियगुरु सीलखाणि।
णिग्गंथु दयालउ अमियवाणि॥
सन्धि १, कड़वक २, यमक ४।१३;

३. जिं मच्छरु मोहु वि वि परिहरियउ।
सुहयझाणि जे णियमणु धरियउ॥
हेमचन्दु आयरिउ वरिट्ठउ।
तहु सीसु नि तवतेय गरिट्ठउ॥
पोमणांधर णादउ मुणिवरु।
देवणांदि तछु सीसु महीवरु॥
एयारह पडिमउ धारंतउ।
रायरोसमयमोह हणंतउ॥
सुहझाणें उवसमु भावतउ।
णदउ वभलोलु समवतउ॥
सन्धि ७, कड़वक ११, यमक ६-१०;

४. तह पासजिणेंदह गिहरवयण।
वे पंडिय णिवसहिं कणयवएण।
गरुवउ जसमलु गुदागणनिहाणु।
वीयउ लहुबंधउ तच्चजाणु॥
सिरि संतिदासु गन्थत्थ जाणु।
वच्चइ सिरि पारसु विमयमाणु॥
वही, यमक ११-१३;

५. सिद्धत अत्थ भावियमणेण।
पुरयण सुहयारउ सुरधघुणेण॥
तंह दिट्ठउ पुणु सूरसइणिवासु।
माणिक्कराजु जिणगुरहं दासु॥
तेणवि सभासणु कियउ तासु।
जो गोठिं पचासइ बहुसुयासु॥
तं जिण अचण पसरिय भुवेण।
अविखउ वुह सूरा सांदणोण॥
भो माणिक पडिय, सील अखडिय,
... .
सन्धि १, कड़वक ६, यमक ४-७, और घत्ता ६;

६. अनेकान्त : वर्ष १०, किरण ४-५ पृष्ठ १६० ।

७. तहिं णिवसइ पंडिउ सत्थखणि।
सिरि जयसवाल कुलकमलतरणि॥
इक्खाकुवस महियलि वरिट्ठु।
वुहसूरा सांदणु सुयगरिट्ठु॥
उप्पएणउ दीवा उरि खण्णु।
वुह माणिकु णामे वुहहि मएणु॥
आमेरशास्त्र भडार सम्प्रति जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी, वे० स० ५२१,

८. रुहियासु वि णामे भणिउ इहु।
अरियण जणाह हिय सल्लु कहु॥
अमरसेन चरिउ, सन्धि १, कड़वक ३, यमक ३;

९. रोहियासिपुरवासि सयललोउ सहणादउ।
वही; सन्धि ७, घत्ता ११;

१०. वही : सन्धि १, कड़वक ३, यमक ४-१६ और घत्ता ३;

११. रइधू ग्रन्थावलि . पासणाहचरिउ : सन्धि १, कड़वक ३;

१२. आयरिय परम्परा जैत दुद्ध जिणचन्द वि सूरें सिद्ध लहु सुन्तु पिक्खि ललियक्खरेण मणि माणिक्कि किउ सुहगिरेण अमरसेनचरिउ : सन्धि ७, कड़वक १०, यमक ८-६,

१३. सुपमाए विरुद्धउ भासिउ।
तं सरसइ महु खमहु भंडारी वीर जिणहो मुहणिग्गय सारी॥
वही : कड़वक १५ यमक ७-८;

१४. णायकुमारचरिउ : वही, पत्र १२३-१२४; प्रशस्ति भाग ।

१५. हेमपोम आयरिय विसंसि वंभज्जु ण गुणगणिण णिहीसि मइ कस वहिय वण्ण धरेप्पिणु कव्वेसु वपणहु लोहवि देप्पणु॥
अमरसेनचरिउ : सन्धि ७, कड़वक १५, यमक ६-१०;

१६. विरयउ एहु चरित्तु सुवुहड्ढिए।
जइयहु अत्थमन्थ हीणउ हुउ॥
तामहु दोसु भव्वु म गछउ कोइं।
विणवइ माणिकु कइ इम॥
मझु खमंतु विवुह सव्वि तिम।
अण्णु वि अमुणंते हीणाहिउ।
मइ जलेण जं कायमि साहिउ।
त जि खमउ सुयदेवि भंडारी।
सिरि णायकुमार चरिउ : वही पत्र १२३-१२४।

"पांच अश्व"

□ डा० (कुमारी) सविता जैन

मैं समझी थी जब शान्त हुआ मन,—
तभी क्रोध की ज्वाला भभकी।
तन-मन झुलसा दावानल में,
और शिराएं तड़कीं-चटकीं ।।
लो, गिरा उगलने लगी विष-वचन,
वर्षों का संयम टूट उठा।
आँधी, पानी, तूफान को समता—
से सहने का भाव बह चला ।।
मैं समझी थी इन्द्रिय के घोड़े,
सभी कर चुकी हूं मैं बस में।
बड़ी शान से चढ़ बैठी थी,
पाँच अश्व वाले उस रथ में ।।
सहसा लगाम छूटी व्याकुल हो—
गिरी धरा पर अकुलाई।
विवेक बुद्धि लड़खड़ा उठी थी,
गिर कर उठने भी न पाई ।।
जिनको अब तक पुचकारा था,
आज मुझी पर हावी थे वे।
जिनको अब तक बाँध रखा था,
आज मुझे वे बाँध रहे थे ।।
तब समझी इन्द्रियों की ज्वाला,
बुझा न सकते सात समुन्दर।
हर छींटा पावक में घृत-सा,
और उन्हें नित उकसाता है।
तेज हवाओं के झोकों से,
और उन्हें नित भड़काता है ।।

7/35, दरियागंज, नई दिल्ली

(पेज २४ का शेषांश)

१७. यदर्थमात्रापदवाक्यहीनम, गयाप्रसादाद्यदि किंचनोक्तम् तन्मे क्षमित्वा विघातुदेवी सरस्वती केवल बोधलब्धिम् भावना द्वात्रिंशतिका : पद्य १०.

१८. अमरसेन चरिउ सन्धि १ कड़वक ४-५ मे देवराज की पूर्ववर्ती तीन पीढ़ियों का तथा सन्धि ७, कडवक १२, १३, १४, १५ में सम्पूर्ण वशावलि का सविस्तार वर्णन किया गया है।

१९. रइधू ग्रंथावलि : पासणाहचरिउ; सन्धि १, कड़वक ३

२०. अमरसेनचरिउ : १. कड़वक ३ यमक ४-१६ और धत्ता ३।

२१. विक्कमरायहु ववगइ कालइं लेसु मुणीस वि सर अंकालइं धरणि सहु चइत वि माणें सणिवारें सुय-पंचमि दिवसे २१ कित्तिय णक्खत्तें सुप जोयं हुउ पुहुणउ सुत्तु विसुह जोय वदी : सधि ७ कड़वक १५ यमक १३-१५;

२२. अथ संवतसरेऽस्मिन् श्री नृप विक्रमादित्य गताब्द: संवत् (१५७७) वर्षे कार्तिक वदि ४ रवि दिने कुरु-जांगलदेशे श्री सुवर्णपथ शुभस्थाने श्री कालसंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री यसाकीर्तिदेवा तत्पदे भट्टारक श्री मलयकीर्तिदेवा तत्पदे भट्टारक श्रीणभद्रसूरिदेण: तदाम्नायं अग्रवालान्वये गोइलगोत्रे सुवर्णपथि वाक्तव्यं । जिणपूजा-पौरन्दरी कृपवान् साधु छल्हू तस्य भार्या सीलतोयतरंगिणी साध्वी करमचंदही······चउ प्रकारादि दान दिसतु साधुवाद तेन इदं अमरसेण सास्त्र लिखायितं । ज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थं ।। वही : अन्तिम पृष्ठ (प्रशस्ति)

२३. माणिक्कराज वज्जिय गएण तं पुण्णु करेप्पिणु एह गथु टोडरमलहत्थें दियणु सुत्थु णियसिरहु चडाविउ तेण गथु पुण तुहइ ठोडर हियइ गंथि दाणें सेयं सह करपणु त पि पंडिउ बर यहहि कविउ तेण पुनपु सम्माणिउ बहु उच्छवेण वर वत्थइं कंकण कुण्डलेहिं अंगुलियहि मुहियणिय करेहिं पुज्जिउ आहारणहि पुणु तुरंतु छरिरोवि वि साज्जिउ वि णयणिरुत्तु मउ णिय घरि पंडिउ गंथु तेण जिणगेहि णियउ बहु उच्छवेण सिरिणायकुमार चरिउ : वही प्रशस्ति, यम १२३-१२४।

णमोकार मंत्र का फल

—पुण्याश्रव कथाकोश से

भरतक्षेत्र के यक्षपुर नाम के नगर में श्रीकान्त नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मनोहरी था। इसी नगर में सागरदत्त वणिक् और रत्नप्रभा नाम की उसकी स्त्री थी। रत्नप्रभा की गुणवती नाम की एक कन्या थी। सागरदत्त उसका विवाह उसी नगर के रहने वाले नयदत्त के पुत्र धनदत्त के साथ करना चाहता था। परन्तु राजा ने आज्ञा दी कि तुम्हें उसका विवाह मेरे साथ करना पड़ेगा। अतएव विवाह नही हो सका।

नयदत्त की स्त्री का नाम नन्दना था। उसके गर्भ से दो पुत्र उत्पन हुए। जिसमें से एक उक्त धनदत्त था और दूसरे का नाम वसुदत्त था। वसुदत्त को राजा ने जंगल मे क्रीडा करते समय मार डाला। तब वसुदत्त के सेवकों ने गुस्से में आकर राजा को भी मार डाला। ये दोनों मर कर हरिण हुए। उधर धनदत्त विदेश को चला गया। अतएव वह गुणवती पुत्री आर्तध्यान से मरकर जहां वे हरिण उत्पन्न हुए थे, वहीं हरिणी हुई। आखिर उसी पर मोहित होकर वे दोनों हरिण आपस में लडकर मर गये, और जंगली शुअर हुए। हरिणी मरकर सूकरी हुई। सो वहां भी वे दोनों सूकरी के पीछे लड कर मरे और हाथी हुए। सूकरी मर कर हथिनी हुई। और इस पर्याय में भी पूर्व प्रकार से मर कर भैंसा, बन्दर, कुरबक, मेंडा आदि अनेक पर्यायों में उन दोनो ने भ्रमण किया। और वह गुणवती भी क्रम से उसी जाति की स्त्री होती गई, तथा उसी के निमित्त से वे दोनों लड़ कर मरते रहे।

एक बार गुणवती गंगा नदी के किनारे हथिनी हुई। सो एक दिन कीचड़ में फँसकर कठगतप्राणा हो रही थी कि इतने मे एक सुरग नाम का विद्याधर आया और उसने उसे **पंच नमस्कार मन्त्र** दिया। उसके फल से हथिनी शरीर छोडने पर मृणालपुर के राजा शम्बु के मन्त्री श्रीभूति की सरस्वती स्त्री के वेदवती नाम की कन्या हुई। एक दिन मृणालपुर में चर्या के लिए एक मुनिराज पधारे थे, सो वेदवती ने देखकर मूर्खतावश उनकी निन्दा की। इसके बाद उसके गले मे जब कोई रोग हुआ, तब लोगों ने कहा कि तूने मुनिराज की निन्दा की थी, यह उसी का फल है। वेदवती को इस बात पर विश्वास हो गया, अतएव मुनि-निन्दा के पाप से छूटने के लिए उसने श्राविका के व्रत धारण कर लिए। इसके पीछे वेदवती के यौवनवती होने पर राजा शम्बु ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा की, और उसके पिता से याचना की। परन्तु राजा मिथ्यादृष्टि था, अतएव श्रीभूति ने अपनी श्राविका कन्या उसे देना अस्वीकार किया।

तब राजा ने कुपित होकर मन्त्री को मार डाला। वह मरकर स्वर्गलोक गया। और वेदवती कन्या "मेरे निरपराध पिता को राजा ने मारा है, अतएव जन्मान्तर में मैं उसके विनाश करने का निमित्त होऊंगी।" ऐसा निदान करके तपस्यापूर्वक शरीर त्याग किया और स्वर्ग में देवाङ्गना हुई। इसके बाद देवायु पूर्ण करके भरतक्षेत्र के दारुण ग्राम में सोमशर्म्मा ब्राह्मण की ज्वाला नाम की स्त्री के सरसा नाम की कन्या हुई। यह यौबनवती होने पर अतिविभूति नाम के एक ब्राह्मण पुत्र को व्याही गई, परन्तु पति के साथ थोड़े ही दिन रह कर किसी जार में आसक्त होकर उसे लेकर देशान्तर में निकल गई। मार्ग में एक मुनि के दर्शन हुए, सो पापिनी ने उनकी निन्दा की। इस महापाप के फल से मरकर उसने तिर्यंच गति पाई। बहुत काल भ्रमण करके वह एक बार चन्द्रपुर नगर के राजा चन्द्रध्वज और रानी मनस्विनी के चित्रोत्सवा नाम की पुत्री हुई। जवान होने पर मन्त्री के पुत्र कपिल पर आसक्त होकर उसके साथ परदेश को चली गई। परन्तु आखिर मत्रीपुत्र से भी नही बनी। उसे छोड़कर विदग्धपुर के राजा कुण्डलमडित की प्यारी स्त्री बनी। वहां पूर्व जन्म के सस्कार के कारण पाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये, और बहुत काल उनका शुद्धचित्त से पालन किया। आयु पूर्ण करके इस बड़े भारी पुण्य फल से वह दूसरे जन्म मे सीता सती हुई।

सीता के स्वयंवरादि का चरित्र पद्मचरित अर्थात् पद्मपुराण से (रामायण से) जानना चाहिए। यहां पर केवल इतना ही कहना है कि एक हथिनी ने भी नमस्कार मंत्र के प्रभाव से श्रीमती सीता सती सरीखी उत्तम पर्याय पाई। यदि अन्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य महामंत्र का जप करें, तो क्या क्या वैभव न पावें? इसके प्रभाव से सब कुछ पा सकते हैं।

गतांक से आगे :

वर्धमान की तालीम

□ शायर फरोग नक्काश

नहीं है कुछ जियादा फर्क इन दोनों उसूलों में,
जरासा बोध[45] है कुछ इनके मानीयो-मतालिब[46] में।
इलावा इसके जैनी जोर देते हैं अहिंसा पर,
समझते हैं वो फाका[47] और उरियानी[48] को अफजलतर[49]।
जहां तक मोक्ष और निर्वाण का कुछ जिक्र आता है,
तो उसमें एख्तलाफ और बोध काफी पाया जाता है।
गरज ये मोक्ष ही तस्किने दिल का नाम है बेशक,
दिया पैगाम जिसका वर्धमां ने तीस सवत् तक।
इलावा इसके दोनों धर्म के यकसा मसाईल[50] है,
तनासुख[51], पारसाई[52] और नेकी से मुमासिल[53] है।
मुकद्दस वेद की तालीम से इंकार है इनको,
गिरोहे बरहमन की बर्तरी से आर है इनको।
वो इंसा के लिए नीच-ऊँच को कहते हैं एक लानत,
उन्हें भाती नहीं उनकी, खुदाराई[54] किसी सूरत।
छुआ-छुत और नस्ली बरतरी को जुल्म कहते हैं,
वो इस तर्जे तमदुन[55] से हमेशा दूर रहते हैं।
खुदा के मसअले पर भी ये दोनों चुप ही रहते हैं,
न कोई बात ही इस जिम्न[56] में वो मुह से कहते हैं।

जैन धर्म के दो फिरके

फिर उसके बाद जैनी धर्म में तब्दीलियाँ आयी,
घटाए इख्तलाफ और तफ्रिके[57] की खूब मंडराई।
करीबन सेहसदी पहले जनाबे इब्ने मरियम के,
बने दो तायफे[58] इनमें कैफे नैरंग[59] आलम से।
है एक फिरका दिगंबर दूसरा श्वेतांबर नामी,
बटे दो तायफे में इनके सब हमदर्द और हामी।
दिगंबर तायफे के मोतकिद[60] है जिस कदर जैनी,
परस्तीश करते हैं उरियां बुतों की और संतों की।
बिगर इसके जो है श्वतांबर फिरका वो है सानी,
नहीं है इसमें पहले तायफे की तरफ उरयानी।
मुकद्दस संत उनके सिर्फ अबियज पहने होते हैं,[61]
हमा[62], लहजा, तजल्ली[63] अपने सीने में समोते हैं।
बुतों को अपने पहनाता है मलबूसात[64] ये फिर्का,
निहायत साफो-शुस्ता रखता है जज्बात ये फिर्का।
मईशत[65] कि बिना इस कौम की काफी है मुस्तहकम,[66]
बिनाए कारेगुल खाली[67] है वजहे तज[68] हो, अहेकम[69]।
है इस मजहब के ८० लाख इंसा आज भारत में,
जो अपने आप को मसरुफ रखते है तिजारत में।
मगर ये तायफा भी रफ्ता-रफ्ता दौरे आखीर में,
पुरातन धर्म का एक जुज्वे है अब ये अस्रे हाजिर में।

प्रस्तुति—डा० शालिग्राम मेश्राम

---

४५. दूरी, ४६. मतलब, ४७. भूखा रहना, ४८. निर्वस्त्र, ४९. बहुत अच्छा, ५०. समस्याएँ, ५१. आवा गमन, ५२. नेकी, ५३. समान, एकरूप, ५४. अपने आपको अच्छा समझना, ५५. रहन-सहन, ५६. मिला हुआ, ५७. फूट, शत्रुता, ५८. गिरोह, ५९. समय की आंधी में ६०. धर्म पर विश्वास रखने वाले, ६१. सफेद कपड़े, ६२. हर वक्त, ६३. ईश्वर की रोशनी, ६४. कपड़े, ६५. कारोबार, ६६. बहुत मजबूत, ६७. खुशहाली, ६८. तिजारत ६९. मजबूत।

सम्पादकीय भेंट :

१. मूल-संस्कृति : अपरिग्रह :

'परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्–' परस्पर में मिले हुए अनेकों में, जो हेतु किसी एक की स्वतंत्ररूपता को लक्षित कराता है वह उस जुदे पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता। उष्णता अग्नि को पानी से जुदा बताने में हेतु है। ससार में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, मुस्लिम, सिख आदि अनेको मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उन सबकी पृथक्-पृथक् पहिचान कराने के उनके अपने-अपने लक्षण निश्चित हैं, जिनसे उनकी पृथक् पहिचान होती है। यह बात निर्विरोध है कि जैनों की पहिचान कराने मे 'अपरिग्रह' मुख्य हेतु है। यह हेतु जैनो का अन्यों से व्यवच्छेद कराता है। गत अको में हमने लिखा था 'जैन-सस्कृति अपरिग्रह मूलक' है और यही अपरिग्रह रूप संस्कृति जैनों का अन्यों से व्यवच्छेद कराती है—जैनों की पहिचान कराती है। साधारणतया अपरिग्रह के सिवाय अन्य शेष धर्मों—अहिंसादि में वह शक्ति नही जो वे जैनो का अन्य मत-मतान्तरो से सर्वथा व्यवच्छेद कराने में समर्थ हो सकें। यत: अपरिग्रह के सिवाय अन्य अहिंसादि शेष धर्म अन्य सभी साधारण मत-मतान्तरों में हीनाधिक रूपो में पाए जाते हैं। अत: जैनों में उनका अस्तित्व तात्त्विक पहिचान के रूप म विशेष महत्व नही रखता और ना ही उनमे से कोई धर्म औरो से जैनों की अलग पहिचान कराने में समर्थ ही है। तथा जैनों की हर क्रिया में पूर्ण अपरिग्रहत्व की भावना निहित है। यहां तक कि जैन का अस्तित्व भी अपरिग्रह पर आधारित है। यत:—

'जैन' शब्द के निष्पन्न होने में 'जिन' की मुख्यता है। जो 'जिन' का है वह 'जैन' है और जो जीत ले वह 'जिन' है। यहां जीतने से तात्पर्य मोह, राग-द्वेषादि पर-वैभाविक भाव अर्थात् कर्मों के जीतने से है। क्योंकि ये मोहादि पर-भाव स्वयं भी परिग्रह हैं और परिग्रह के मूल भी हैं।

हमने श्रावक व मुनियों के दैनिक कृत्यों को पढ़ा है और उनके प्रारम्भिक कृत्यों को देखा है। नित्य नियम सामायिक आदि के लक्षणों में भी अपरिग्रह-भावना की कारणता विद्यमान है अर्थात् जब तक रागादि-परिग्रह के प्रति उदासीन भाव नही होगा तब तक सामायिक न हो सकेगी। जहां पर—परिग्रह से निवृत्ति और स्व यानी अपरिग्रहत्वरूप निर्विकार स्व-परिणाम में ठहराव है वही सामायिक है और वह ही आत्म-शुद्धि मे कारण है। जब तक जीव की पर-प्रवृत्ति बनी रहेगी, चाहे वह प्रवृत्ति अहिंसादि में ही क्यों न हो? वह बन्ध का ही कारण होगी क्योकि अहिंसादि धर्म भी पर-अपेक्ष कृत हैं, पर के आसरे से है। स्व-परिणाम 'अपरिग्रह' रूप होने से बन्ध का कारण नही। अहिंसादिक सामाजिक धर्म हैं और अपरिग्रह आत्मिक धर्म है जिसका 'जिन' और जैन से तादात्म्य संबन्ध है।

युग के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक चौबीस तीर्थंकर और अरहन्त अवस्था व मुक्ति को प्राप्त असख्य सिद्ध अपरिग्रही होने से ही पूर्णता को पा सके। एक भी दृष्टान्त ऐसा नही है जिससे परिग्रही का मुक्त होना सिद्ध हो सके।

जैनों में जो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद पड़े हैं वे परिग्रह और अपरिग्रह के कारण ही पड़े हैं। ऐसा मालुम होता है कि जिन्होंने अपरिग्रह पर समन्तत: और सूक्ष्म दृष्टि रखी वे दिगम्बर और जिन्होने अपरिग्रह पर स्थूल, एकांगी बाह्य-दृष्टि रखी वे श्वेताम्बर हो गए। स्मरण रहे जहां दिगम्बर अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह त्याग पर सूक्ष्म रूप में जोर देते हैं, वहां श्वेताम्बर बाह्य परिग्रह को गौण कर केवल अन्तरंग परिग्रह को मुख्यता देते हैं और इसीलिए उनमें स्त्री और सवस्त्र मुक्ति को मान्यता दी गई है। यदि इन भेदों के होने में अहिंसादि को लेकर मत-भेद की बात होती तो उसका

कहीं तो कैसे भी उल्लेख होता—जैसा कि नहीं है। दोनों में ही अहिंसादि चार धर्मों के लक्षणो और उनके रूपों की मान्यता में एकरूपता है। यदि भेद है तो परिग्रह और अपरिग्रह के लक्षणों को लेकर ही है।

दोनों संप्रदायों मे दो श्लोक बड़े प्रसिद्ध है। उनमें दिगम्बर-सम्प्रदाय मे शास्त्र वाचन के प्रारम्भ मे पढ़ा जाने वाला मंगलश्लोक पूर्ण-अपरिग्रही होने के रूप में नग्न दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता है जब कि श्वेताम्बरों में इस श्लोक का रूप सवस्त्र (दिगम्बरों की दृष्टि मे परिग्रही) आचार्य स्थूलभद्र को नमस्कार रूप में है। तथाहि—

दिगम्बरों मे :—

मगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोगणी।
मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

श्वेताम्बर :—

मंगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोप्रभु।
मंगल स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मगलम्॥

उक्त श्लोको से यह भी ध्वनित होता है कि महावीर और गौतमगणधर के पर्याप्त समय बाद तक अभेद रहा और बाद में अपरिग्रह, परिग्रह के आधार पर नग्न और सवस्त्र साधु के भिन्न-भिन्न नामों से श्लोक प्रचलित किया गया, जो कुन्दकुन्द और स्थूलभद्र के रूप में हमारे सामने है। श्लोको में महावीर और गौतम के नाम यथावत एक रूप है। इसी के आधार पर दिगम्बर कभी सवस्त्र को निर्ग्रन्थ-गुरु के रूप में नमस्कार नहीं करते। और वैसा मगलाचरण भी नही करते अब जैसा कोई-कोई करने लगे हैं जो ठीक नही है।

अपरिग्रह धर्म अध्यात्मरूप भी है जो आत्मा के पर-भिन्न—नग्न—शुद्धस्वरूप को दर्शाता है। इसी अपरिग्रही रूप की प्राप्ति के लिए जिनशासन मे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक के विधान हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—आत्मा के प्रति आना। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—पुनः 'पर' में न जाना और सामायिक का अर्थ होता है—अपने में स्थिर होना। यह जो कहा जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ में आना आदि, सो सब व्यवहार है।

(१) **प्रतिक्रमण** :—परिग्रह से आवृत प्राणी पुनः-पुनः परिग्रह—राग-द्वेषादि रूप पर-भावों मे दौड़ता है अर्थात् वह स्व से बेखबर हो जाता हैं और पुण्य-पापरूप या ससारवर्द्धक पर पदार्थों में वृत्ति को ले जाता है। ऐसे जीव को उन परिग्रह—कर्मबंधकारक क्रियाओं से सर्वथा हटकर पुनः अपने शुद्ध अपरिग्रही आत्मा में आने के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। इसमे पर-प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध और स्व-प्रवृत्ति (जो शुद्ध यानी अपरिग्रह रूप है) में आने का विधान है।

(२) **प्रत्याख्यान**—जो जीव पर से स्व में आ गया, वह पुनः पर मे न जाने को कटिबद्ध हो, यानी पुनः परिग्रहरूप—कर्मबंधकारक क्रियाओं मे न जाने मे सावधान हो? इससे उसका आगामी ससार- परिग्रह यानी कर्म-बंधरूप संसार रुकेगा।

(३) **सामायिक**—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मे सन्नद्धजीव सम—समता भाव में स्थिर होने में समर्थ हो सकेगा। क्योकि समता का शुद्ध-आत्मा से अटूट सम्बन्ध है। समता का भाव है—किसी अन्य के प्रति शुभ या अशुभरूप—पर भावो का सर्वथा त्याग। क्योंकि शुभ और अशुम भाव- चाहे वे विभिन्न जीवों में एक जैसे ही क्यों न हो बन्ध कारक होंगे, जब कि सच्ची सामायिक में आस्रव व बंध दोनों का सर्वथा अभाव यानी आत्मा के अपरिग्रही होने का पूर्ण उद्देश्य है। इसी सामायिक से ध्यान और कर्मक्षय को बल मिलता है। इस प्रकार जैन की सभी प्रवृत्तियां अपरिग्रहत्व की ओर मुड़ी हुई हैं जब कि अहिंसादि अन्य धर्मों मे पर का अवलम्ब अपेक्षित है। ध्यान के विषय में भी कुछ लिखना है जिसे हम फिर कभी लिखेंगे। ध्यान की प्रक्रिया आज जोरों से प्रचारित है और उसमें पर-प्रवृत्ति ही विशेष लक्ष्य बनी हुई है!

२. आगम-विपरीत प्रवृत्तियां :

क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव मिथ्यात्वरूप भाव और मिथ्या आचरण से सर्वथा दूर रहता है। ज्ञात हुआ है कि

श्री कान जी स्वामी जब जीवित थे, तब श्री चम्पाबेन को क्षायिक सम्यग्दृष्टी के खिताब से प्रसिद्धि मिली थी और उन दिनों यह बात बहुत लम्बे समय तक बहुत से उन मनीषियों को भी पता थी जो आज श्री चंपाबेन के कार्य का विरोध कर रहे हैं। उन्हे तभी सोचना चाहिए था कि इस युग मे क्षायिक सम्यग्दृष्टी कहां और उस सम्यग्दृष्टी को पहिचान करने वाला कौन ? पर तब न सोचा और सब मौन रहे। हमने समझा 'मौन सम्मति लक्षणम्'। जब ऐसा ही था तब वह क्षायिक सम्यग्दर्शन छूट कैसे गया जो श्री चपाबेन से सूर्यकीर्ति जैसे कल्पित तीर्थंकरे की मूर्ति का निर्माण करा रहा है। और पूरी समाज मे क्षोभ का वातावरण बन रहा है। अथवा क्या यह समझ लिया जाय कि श्री चम्पाबेन पर 'मिथ्यादर्शन बन्ध का कारण नही' इस मान्यता का प्रभाव पड़ गया है जो वे कल्पित भावी तीर्थंकर सूर्यकीर्ति की मूर्ति स्थापन जैसे मिथ्याकार्य में लग गई हैं—उन्हें कर्मबन्ध का भय नही रहा है। स्मरण रहे कभी यह चर्चा जोर पकड़ गई थी कि 'मिथ्यादर्शन बन्ध का कारण नही।'

कल्पित भावी तीर्थंकर सूर्यकीर्ति की मूर्ति के स्थापन का प्रसंग आगम के सर्वथा विरुद्ध है और अब हमारे बड़े-बड़े विद्वान भी ऐसा लिख रहे हैं। इस नाम के किसी भी तीर्थंकर का किसी भी शास्त्र मे उल्लेख भी नही है और श्री चम्पावेन आगे-पीछे के भवो को जानती है यह बात भी सर्वथा मिथ्या है। अतः सूर्यकीर्ति की मूर्ति और श्री चंपावेन दोनों का घोर विरोध होना चाहिए—समाज ने उचित कदम उठाया है। कल को साधारण लोग भी ऐसा कह सकते हैं कि हम भी स्वयं तीर्थंकर हैं, हमें स्वप्न आया है और आगे-पीछे के भव ज्ञात हुए हैं। क्योंकि अब उन्हें अपने को भूत-भावी का ज्ञाता सिद्ध करने के लिए, श्री चंपावेन की माफिक किन्हीं प्रमाणान्तरों की आवश्यकता नहीं रह गई—वे भी स्वयं ज्ञाता हैं—जैसे श्री चम्पाबेन। अतः विरोध और भी जरूरी है, जिससे भावी मार्ग दूषित न हो।

हम यह सोचने को भी मजबूर हैं कि उक्त मूर्ति के विरोध में समाज को कहां तक सफलता मिल सकेगी ? हम चाहते हैं कि सफलता मिले। पर, पिछले कई रिकार्ड ऐसे हैं जिनमें समाज को मुंह की खानी पड़ी है और ऐसे प्रसंगों में समाज विभाजित होता रहा है। प्रमाणरूप में सर्व साधारण मुनियों की मूर्तियों का स्थापित होना हमारे समक्ष है, आज मुनियों की मूर्तियां जोरों से बनने लगी हैं, जो आगम के सर्वथा विरुद्ध है—कोई उसे रोक नहीं पा रहा है। ऐसे ही समाज में कितना ही दूषित साहित्य प्रकाशित हो रहा है और विद्वानो के प्रभूत विरोध के बाद भी उसमे कोई सुधार नही हो रहा ? इसका अर्थ क्या हम ऐसा लें कि जो हमारा है वह ठीक है और जो दूसरे का है वह मिथ्या है ?'

पिछले समय मे हम धर्म-चक्रप्रवर्तन, मंगल कलश-भ्रमण और ज्ञान-ज्योति के भारत-भ्रमण को देख चुके हैं। हम नही समझते कि इनसे जैन तत्त्वज्ञान और जैनाचार का मूर्तरूप कहीं उभर कर आया हो— सब जहां के तहां हैं या अधिक गिरावट की ओर जा रहे हैं। हां, इनसे अर्थ का दुरुपयोग और अर्थ संग्रह अवश्य उभर कर सामने आये हैं—शायद कुछ वर्ग अपने लिए संपत्ति भी जुटा सका हो। यही अवस्था बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंसों, सेमिनारों आदि की है। लोगों को तो ये सब ऐसे हैं जैसे कोई तमाशा दिखाने वाला जादूगर आए, मजमा इकट्ठा करे और जादू के करिश्मे दिखा कर चला जाए और लोगो को जादू विद्या का कुछ ज्ञान पल्ले न पड़े वे मात्र मन बहलाव—थोड़ी-सी देर की मन-तुष्टि कर लें, कि बहुत अच्छा हुआ। अन्ततः खाली के खाली। विविध लोग आए और गए। सब पैसे का खेल है। साधारण को इनसे लाभ नहीं।

हम अभिनन्दनों और जयन्तियों के भी पक्ष में नहीं हैं। इन्हें भी लोग प्रसिद्धि और मान-बड़ाई के लिए करते या करवाते हैं। नतीजा जो होता है वह श्री चम्पावेन के मूर्ति-स्थापन कार्यक्रम के रूप में सामने है। यतः अभिनन्दित व्यक्ति प्रशंसा में फूल जाते हैं और अपने को भगवान जैसा मान कर मनमानी पर उतर आते हैं ऐसा भी देखा गया है। अतः अभिनन्दनों के अतिरेक बन्द होने चाहिए।

हमें हर्ष है कि अब इन्दौर ने श्रावकाचार वर्ष मनाने

का संकल्प किया है और वह भारत में श्रावक तैयार करने का बीड़ा उठा रहा है। पर, यह भी सोच लेना चाहिए कि हमारे प्रचारक नेताओं में ऐसे सच्चे श्रावक कितने होंगे जिनकी जनता पर श्रावकाचाररूप में छाप पड़ेगी ? कोरे साहित्य वितरण से प्रचार हो सकेगा—यह बात भी तब तक अधूरी जैसी है—जब तक प्रचारकों में कुछ स्वयं आचार के मूर्तरूप न बनें। इन्दौर वाले मूर्त-आचार देने में सफल हों, ऐसी हम कामना करते हैं उनके इस सत्प्रयास मे हम उनके साथ हैं। काश, कुछ हो सके ?

३. शोध-खोज और हमारा लक्ष्य :

शोध की दिशा बदलनी होगी। आज जो जैसी शोध हो रही है और जैसी परिपाटी चल रही है, उससे धर्म दूर-दूर जाता दिखाई दे रहा है। यह ठीक है कि जैनधर्म शोध का धर्म है पर उसमे शोध से तात्पर्य आत्म-शोध (शोधन) से है, न कि जड़ की गहरी शोध से। जड़ की गहरी शोध तो आज बहुत काल से हो रही है और इतनी हो चुकी है कि दुनियां विनाश के कगार तक जा पहुंची है—परमाणु-खतरा सामने है। प्रकारान्तर से हम जैनी भी आज जो खोजें कर रहे हैं, वे पाषाण और प्राचीन लेखन आदि की खोजें भी सीमाओं को पार कर गई हैं। उनसे हमारे भण्डार तो भरे, पर हम खाली के खाली, जहां के तहां और उससे भी गिरे बीते रह गए और आत्म-लक्ष्य न होने से किसी गर्त मे जा पहुंचे। यदि यही दशा रही तो एक दिन ऐसा आयगा कि कोई उस गर्त को मिट्टी से पूर देगा और हम मर मिटेंगे—जैनी नाम शेष न रहेगा—मात्र खोज की जड़ सामग्री रह जायगी। या फिर क्या पता कि वह भी रहे न रहे। पिछले कई भण्डार तो दीमक और मिट्टी के भोज्य बन ही चुके हैं।

प्राचीन पूर्वाचार्य बड़े साधक थे उन्होंने स्वय को शुद्ध किया और खोजकर हमें आत्म-शुद्धि के साधन दिए। आज भण्डारों से पूर्वाचार्यों कृत इतने ग्रंथ प्रकाश में आ चुके है कि अपना नया कुछ लिखने-खोजने की जरूरत ही नहीं रही। हम प्रकाश में आए हुए मूल ग्रंथों का तो जीवन मे उपयोग न करें और मनमानी नई पर-खोजो में जुटे रहें, वह भी दूसरों के लिए। यह कहां की बुद्धिमानी है ? हमें अपने जीवन में आचार पर बल देना ही हमारी सच्ची खोज होगी।

यह हम पहिले भी लिख चुके हैं और आज भी लिख रहे हैं कि यदि वास्तव में शोध-खोज का मार्ग प्रशस्त करना है तो हम शुद्ध पंडित परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करें—जिससे हमें भविष्य में आत्म-शोध का मार्ग मिलता रहे। आचार्यों द्वारा कृत प्राचीन शोधों से हमें वे ही परिचित कराने में समर्थ हैं। इसमें अत्युक्ति नही कि भविष्य में पूर्वाचार्यों द्वारा शोधित ऐसे जटिल प्रसंग हमें सरल भाषा मे कौन उपस्थित करा सकेगा, जैसे प्रसंग आयु के उतार पर बैठे हमारे विद्वानों ने जुटाए हैं। षट्खंडागम—धवलादि, समयसार, षट्प्राभृत संग्रह, बंध-महाबंध तथा अन्य अनेक आगमिक ग्रंथों के प्रामाणिक हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत करने वाले इन विद्वानों को धन्य है और इनकी खोजें ही सार्थक है। हमारा कर्तव्य है कि उन ग्रन्थों का लाभ लें—उन्हें आत्म-परिणामों में उतारें और आगामी पीढ़ी को उनसे परिचित करायें। बस, आज इतनी ही शोध आवश्यक है और यही जैन और जैनत्व के लिए उपयोगी है—अन्य शोधें निरर्थक हैं। वरना, देख तो रहे हैं—जैनियों के ढेर को आप। शायद ही उसमें से किसी एक जैनी को पहिचान सकें आप।

एक सज्जन बोले—हमें याद है, जब हमने एम. ए. कर लिया तो हमारे सामने भी कई हितैषियों द्वारा शोध-प्रबंध लिखकर डिग्री प्राप्त कर लेने की बात आई थी और चाहते तो हम डिग्री ले भी सकते थे। पर, हमने सोचा—शोध तो आत्मा की होनी चाहिए। प्रयोजनभूत तत्त्वों और आगमिक कथनों को तो आचार्यों ने पहिले ही शोध कर रखा है। क्यो न हम उन्हीं से लाभ लें ? यदि हमने प्रचलित रीति से किसी नई शोध का प्रारम्भ किया तो निःसन्देह हमारा जीवन उसी मे निकल जायगा और अपनी शोध—आत्म-शोध कुछ भी न कर सकेंगे। बस, हमने उसमें हाथ न डाला। अब यह बात दूसरी है कि परिस्थितियों वश हम अपनी उतनी खोज न कर सके, जितनी चाहिए थी। फिर भी हमें सतोष है कि हम जो हैं, जैसे हैं, ठीक हैं। पूर्वाचार्यों की शोध में संतुष्ट, आस्था-वान और विवादास्पद एकांगी शोधों से दूर।

क्या कहें ? शोध और संभाल की बातें ? एक दिन एक सज्जन आ गए। बातें चलती रहीं कि बीच में—बिखरे वैभव की रक्षा और शोध का प्रसंग छिड़ गया। वे बोले—पंडित जी, क्या बताएं ? मैं अमुक स्थान पर गया। कितना मनोरम पहाड़ी प्रदेश है वह, कि क्या कहूं ? मैंने देखा वहां हमारी प्राचीन सुन्दर खंडित-अखडित मूर्तियों का वैभव बिखरा पड़ा है, कोई उसकी शोध-संभाल करने वाला नही—बड़ा दुख होता है इस समाज की ऐसी दशा को देखकर। वे चेहरे की आकृति से, अपने को बड़ा दुखी जैसा प्रकट कर रहे थे, जैसे सारी समाज का दुख-दर्द उन्हीं ने समेट लिया हो।

बस, इतने में क्या हुआ कि सहसा उन्होंने पाकिट से सिगरेट निकाली, माचिस जलाने को तैयार हुए कि मुझसे न रहा गया—मन ने सोचा, वाह रे इनका प्राचीन वैभव। वचनों ने तुरन्त कहा—'कृपा करके बाहर जाकर पीजिए।' वे सहमे। जैसे शायद उस क्षण उन्हें अपनी शोध-संभाल का ध्यान आया हो—क्षण भर के लिए ही सही। वे विरमत हुए और बात समाप्त हो गई। मैंने सोचा—काश, ये अन्य शोध-संभालो के बजाय आत्म-शोध करते होते। आप इस प्रसंग में कैसा क्या सोचते हैं, जरा सोचिए।

जब देश मे हिंसा का वातावरण बन रहा है, लोग मछली-पालन और पोल्ट्रीज फार्म कायम करने जैसे धन्धों द्वारा जीवो के वध में लगे हैं तब कुछ लोग उस वध के निषेध में भी लगे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो पशु-पक्षियों पर रिसर्च कर ग्रन्थों के निर्माण मे लगे हैं। गोया, अनजाने में वे मांस-भक्षियों को विविध जीवो की जानकारी दे रहे हों, क्योंकि परमाणु खोज की भांति उसमें भी जीवरक्षा की गारण्टी नही है—मांस भक्षी ऐसी जानकारी का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। हमने बहुत से आफसैट पोस्टरो को देखा है, जो प्लेट पर अण्डे की जर्दी लगाकर छापे जाते हैं। अहिंसा के पुजारी बनने वाले कतिपय प्रचारक इसी विधि के पोस्टर बनाने-बनवाने में सन्नद्ध हैं, आदि।

एक सज्जन हैं जो हमें बारम्बार लिख रहे हैं कि अमुक विषय पुराना है, ये सन् ४१ मे छपने के बाद दुबारा छप गया है—इसका आप प्रतिवाद करे आदि। हम नही समझ पा रहे कि किसका समर्थन करें और किसका प्रतिवाद करें। हम तो उत्तम लेख देना चाहते है। हमें खुशी है कि हमारी कमेटी उपयोगी व शोधपूर्ण लेखों के लिए कुछ पुरस्कार देने पर भी विचार कर रही है। शायद इससे आत्मोपयोगी और चारित्र की दिशा में ले जाने वाले लेख मिल सकें

एक हितैषी ने लिखा है—आप ने अनेकान्त को पुनरुज्जीवित किया है, इसे स्व० मुख्तार साहब के स्तर तक पहुंचाना है—इसे आध्यात्मिकता दें। कुछ लोग चाहते हैं—इसे सरल और बालोपयोगी बनाया जाय—जैसे कुछ चित्र कथाए आदि आदि। हमें सभी को आदर देना है।

लोक भिन्न-भिन्न रुचि वाला है जो जैसा चाहता है, ठीक है—अपनी-अपनी दृष्टि है। पर, हमें यह मानकर चलना चाहिए कि सभी महावीर नही हो सकते और न सभी मुख्तार सा०। महावीर भगवान थे और मुख्तार सा० स्वाश्रित, स्वाधीन। उनके युग में जो जैसा हुआ, उचित हुआ। हमें भी युगानुरूप उचित करना चाहिए। हमारी दृष्टि तो आज चारित्र पर बल देने और सैद्धान्तिक विषयों के प्रतिपादन की है। ये जो हमारी अर्थ के प्रति दौड़ है उसे सीमित होना चाहिए। ऐसा न हो कि धर्म-मार्ग सर्वथा ही अर्थ-मार्ग बन जाय और धर्म शिथिल हो जाय—जैसा कि आज हो रहा है। कई लोग तो स्वय को अर्थ लाभ न होने पर सस्थाओ की बुराई करने तक पर उतर आते देखे गये हैं। खेद !

हम निवेदन कर दें कि यह अनेकान्त के ३७वें वर्ष की अंतिम किरण है। इस बीते वर्ष मे हम स्खलित भी हुए होगे जिसका दोष हमारे माथे है। हम यह भी जान रहे हैं कि जो मोती चुनकर हम देते रहे हैं उनके पारखी थोड़े ही होंगे। एक-एक मोती चुनने में कितनी शक्ति लगानी होती है इसे भी कम लोग ही जानते होंगे। धर्म और तत्त्वज्ञानशून्य वर्ग तो हमारे कार्य को निष्फल मानने का दुःसाहस भी करता होगा। पर, इसकी हमें चिंता नही। यतः सभी हंस नही होते। हां, एक बात और, अब तक हमारे संपादक मंडल, महासचिव, संस्था की कमेटी आदि ने हमे पूरा २ सहयोग दिया है। लेखकों के सहयोग से तो पत्रिका को जीवन ही मिलता रहा है। हम सभी के आभारी हैं।

वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कार्यकारिणी

१.	साहू श्री अशोक कुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२.	न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुगलक क्रीसेन्ट, तुगलक रोड, नई दिल्ली
३.	श्री गोकुल प्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	३, रामनगर (पहाड़गंज) नई दिल्ली
४.	श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६ दरियागंज, नई दिल्ली-२
५.	श्री चक्रेशकुमार जैन	सचिव	३, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
६.	श्री बाबूलाल जैन	,,	२/१०, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली
७.	श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली
८.	श्री इन्दरसेन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
९.	श्री ओमप्रकाश जैन	,,	२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१०.	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	,,	बी-४५/४७, कनाट प्लेस, नई दिल्ली
११.	श्री भारतभूषण जैन	,,	१, अंसारी रोड, नई दिल्ली
१२.	श्री विमल प्रसाद जैन	,,	अजित भवन, २१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
१३.	श्री अजित प्रसाद जैन	,,	,, ,, ,,
१४.	श्री अनिल कुमार जैन	,,	२७७० कुतुब रोड, सदर, दिल्ली
१५.	श्री रत्नत्रयधारी जैन	,,	५, अल्का जनपथ लेन, नई दिल्ली
१६.	श्री दिग्दर्शन चरण जैन	,,	ज्ञान प्रकाशन, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
१७.	श्री मल्लिनाथ जैन	,,	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१८.	श्री मदनलाल जैन	,,	सी ६-५८, डवलपमेंट एरिया सफदरजंग, नई दिल्ली
१९.	श्री दरयाव सिंह जैन	,,	७/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
२०.	श्री नरेन्द्र कुमार जैन	,,	४८४१-ए/२४ दरियागंज, नई दिल्ली
२१.	डा० दरबारी लाल कोठिया	,,	प्लाट नं० ४, भोगावीर कालोनी लंका, वाराणसी

नोट—क्रमांक १५ का दि० २२-१०-८४ को स्वर्गवास हो गया।

[आवरण दो का शेष]

यदि प्रचार की प्रक्रिया को सफल बनाना है तो धनिकवर्ग को भी यश-लिप्सा और पद-लोलुपता से विरक्त होना होगा और ऐसे विद्वानों को तैयार करने में धन लगाना होगा जो मन वचन-काय सभी भांति से धर्म की मूर्ति हों—जिनके आचार-विचार सभी में जिनवाणी मूर्त हो और जिन्हें अर्थ के लिए परमुखापेक्षी न होना पड़े। जब तक धन के ऊपर ज्ञानका प्रभुत्व था तब तक धर्म की बढ़वारी रही और जिस दिन से ज्ञान के ऊपर धन का प्रभुत्व हुआ; धर्म पंगु होता चला गया। अतः—बन्धुवर, आवश्यकता इस बात की है कि समाज मे सच्चे विद्वान, त्यागी और निःस्पृही तत्त्वों को बढ़ाया जाय, उन्हें प्रश्रय दिया जाय और उनसे मार्ग दर्शन लिया जाय। विद्वानों का भी कर्तव्य है कि वे अपने आचार में दृढ़ रह जिनवाणी की उपासना के श्रम को सार्थक करें और धर्म की बढ़वारी करें चाहे सर्वस्व अर्पण ही क्यों न करना पड़े। आशा है, हमारी और समाज की दिशा बदलेगी और सभी इसी भांति वह सब कुछ पा सकेंगे जिसकी उन्हें चाह है। इससे यश चाहने वालों को अटूट यश मिल सकेगा और स्व तथा पर सभी को सुख और शान्ति भी।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

> विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल-- डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक-- श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक-- बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।